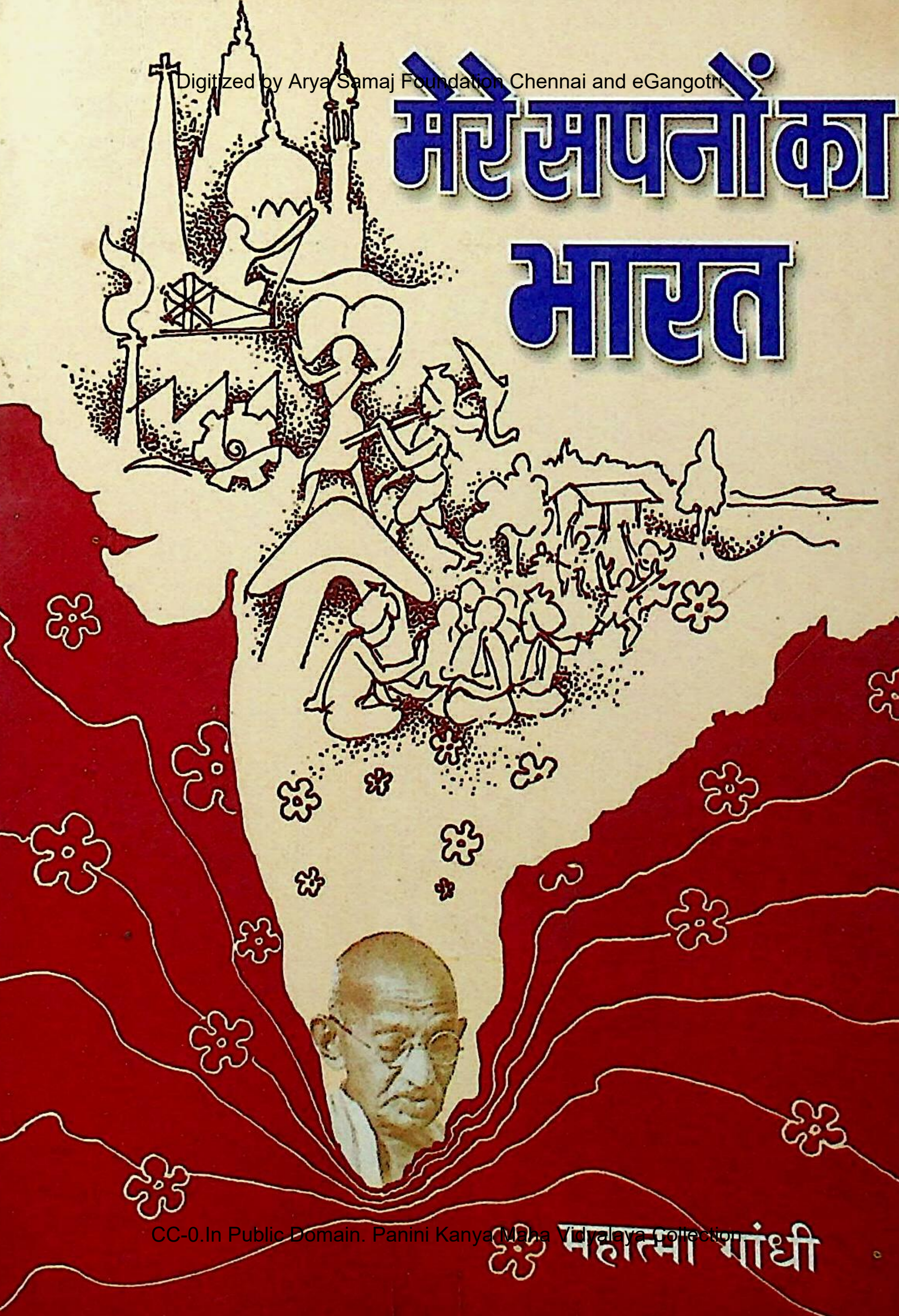
मेरे सपनों का भारत



महात्मा गांधी

प्रियम्वदायाः

10.5V1

मेरे सपनों का भारत

(संक्षिप्त)

•

लेखक

मो० क० गांधी

•

सम्पादक

सिद्धराज ढड्ढा

•

सर्व सेवा संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी



मेरे सपनों का भारत

लेखक :
मो० क० गांधी

सम्पादक :
सिद्धराज ढड्ढा

संस्करण : दसवाँ
प्रतियाँ : ३,०००
कुल प्रतियाँ : २,९६,०००
जुलाई, २००७

प्रकाशक :
सर्व सेवा संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी-२२१ ००१

मुद्रक :
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी-२२१ ०१०

मूल्य : बीस रुपये

MERE SAPNO KA BHARAT

M. K. Gandhi

Price : Rs. 20/-

सम्पादक की ओर से

कुछ दिन पहले राजस्थान-विश्वविद्यालय में अध्ययन कर रहे विदेशी युवक-युवतियों को गांधीजी के विचार और व्यक्तित्व के बारे में सम्बोधित करने के लिए राजस्थान-सरकार के सूचना-विभाग ने मुझे बुलाया था। एशिया, अफ्रीका आदि नवोदित राष्ट्रों के ४०-५० नौजवान स्त्री-पुरुष उस बैठक में सम्मिलित थे। अपनी बात कहने से पहले मैंने उन नौजवानों से पूछा कि उनके खयाल से गांधीजी के जीवन का सबसे बड़ा काम क्या था? लगभग हरएक ने एक ही बात कही कि वे हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई के नेता थे और उन्होंने भारत को आजाद किया। जब मैंने उनको बताया कि गांधीजी की अपनी दृष्टि में, जैसा उन्होंने 'आत्मकथा' की अपनी भूमिका में लिखा है, यह काम कम-से-कम कीमत रखता था, और सत्याचरण के उनके आध्यात्मिक प्रयोगों के साथ-साथ गांधीजी के जीवन और विचारों का एक महत्त्वपूर्ण पहलू आज की दुनिया की उलझनभरी समस्याओं से सम्बन्धित था, तो उन्हें कुछ अचम्भा हुआ। उनके सामने गांधीजी के विचारों का यह पहलू कभी नहीं आया था, बल्कि वे उसी भ्रम में पले थे, जिस भ्रम को हममें से बहुत-से सेते हैं, कि जहाँ तक आज की आर्थिक, राजनैतिक समस्याओं का प्रश्न है, गांधीजी के विचार पुराने जमाने के थे। आज की दुनिया के लिए वे अनुपयोगी हैं।

गांधीजी का जीवन निरन्तर और आग्रहपूर्वक सत्य के आचरण में लगी हुंई आत्मा की अखण्ड यात्रा थी। पर उनका सत्याचरण केवल

निजी मुक्ति के लिए नहीं था। उनका सारा जीवन सामाजिक अन्याय, आर्थिक विषमता, शोषण, गरीबी और ऊँच-नीच के भेदभाव के खिलाफ सतत संघर्ष था, क्योंकि ये सब असत्य के ही विविध रूप या उसकी सन्तान हैं। भारत की राजनीतिक आजादी इस अन्याय को दूर करने के लिए पहला कदम था। गांधीजी के लिए आजादी अपने-आपमें कोई साध्य नहीं था, पर भारत की दलित और पीड़ित जनता के त्राण का साधन था।

आज के युग में गरीबों के वोट या उनका समर्थन सबको चाहिए। इसलिए गरीबी और अन्याय मिटाने का जाप सब करते हैं; लेकिन जहाँ तक क्रिया का सम्बन्ध है, टॉल्स्टॉय के शब्दों में, 'हम सब कुछ करने को तैयार हैं, सिवा गरीबों की पीठ पर से उतरने के।' जाने-अनजाने, "भद्र" और "प्रबुद्ध" कहे जानेवाले हम सब लोगों का यह निहित स्वार्थ बन गया है।* इस कारण गरीबी और अन्याय को मिटाने के सीधे और सरल उपाय भी हमें अव्यावहारिक मालूम पड़ते हैं। गांधीजी के सामने ध्येय और मार्ग दोनों स्पष्ट थे। उन्होंने अनेक बार इस बात को दोहराया कि उनके लिए उस आजादी का कोई मूल्य नहीं है, जिसमें सबसे पीड़ित और सबसे कमजोर को शोषण और अन्याय से मुक्ति न मिले और वे यह महसूस न करें कि यह उनका देश है। "मेरे सपनों का स्वराज्य तो गरीबों का स्वराज्य होगा"—ऐसा वे कहा करते थे। इस ध्येय की पूर्ति का मार्ग भी उनके सामने स्पष्ट था। "मेरी मान्यता है कि सत्य और अहिंसा के बिना मनुष्य-जाति का विनाश हो जायेगा। और सत्य-अहिंसा को हम ग्रामीण जीवन की सादगी में ही प्राप्त कर सकते हैं। . . .सच तो यह है कि हमें गाँवोंवाले भारत और शहरोंवाले भारत—इन दो में से एक को चुन लेना है।" उनकी कल्पना थी कि हर गाँव "पूर्ण प्रजातंत्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं करेगा।"

* कि हम गरीबों की पीठ पर चढ़े रहें।

पर इसके विपरीत पं. जवाहरलाल नेहरू का ध्यान बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों और विराट् योजनाओं के जरिये उत्पादन बढ़ाने तथा राज्य की शक्ति द्वारा सामाजिक न्याय स्थापित करने की ओर था। जब आजादी सन्निकट थी, तब गांधीजी ने गम्भीरता के साथ इस प्रश्न की चर्चा कांग्रेस की वर्किंग कमेटी में उठायी। कमेटी की चर्चा में चूँकि पूरी सफाई होना सम्भव नहीं था, इसलिए फिर उन्होंने इस विषय पर पं. नेहरू से पत्र-व्यवहार किया। अक्तूबर, १९४५ के आरम्भ में उन्होंने एक पत्र में पण्डितजी को लिखा था—"हम लोगों के दृष्टिकोण में जो अन्तर है उसके बारे में मैं लिखना चाहता हूँ। अगर वह अन्तर बुनियादी है तो. . .जनता को उसकी जानकारी होनी चाहिए। इस बारे में उनको अँधेरे में रखना स्वराज्य के हमारे काम के लिए हानिकारक होगा।" अपने खुद के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे लिखा—"मेरी दृढ़ मान्यता है कि अगर भारत को सच्ची आजादी प्राप्त करनी है, और भारत के जरिये संसार को भी, तो आगे या पीछे हमें यह समझ लेना होगा कि जनता को गाँवों में ही रहना है शहरों में नहीं; झोपड़ियों में रहना है, महलों में नहीं। करोड़ों लोग शहरों या महलों में कभी एक-दूसरे के साथ शान्तिपूर्वक नहीं रह सकते। उस परिस्थिति में उनके पास सिवा इसके कोई चारा नहीं होगा कि वे हिंसा और असत्य, दोनों का सहारा लें।"

देश का यह सौभाग्य नहीं था कि आजादी के नेता और उनके राजनैतिक उत्तराधिकारी के बीच दृष्टिकोण का यह अन्तर दूर हो पाता। आजादी के चन्द दिनों बाद ही गांधीजी हमारे बीच से उठ गये। उसके बाद इन पिछले २०-२२ वर्षों में भारत-सरकार की नीति और योजनाओं के कारण देश की जो स्थिति बनी है, वह किसी से छिपी नहीं है। प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। गांधीजी की भविष्यवाणी एक-एक करके सच्ची साबित हो रही है।

हमने गांधीजी को राष्ट्रपिता कहकर उनके चित्रों, मूर्तियों आदि की पूजा तो शुरू की, लेकिन प्रचलित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के खिलाफ उन्होंने विकेन्द्रित अहिंसक समाज का जो बुनियादी विचार दिया था, उसको हमने पर्दे के पीछे ढकेल दिया। नतीजा यह हुआ कि नयी पीढ़ी गांधी-विचार के इस क्रान्तिकारी पहलू से, जो स्वयं गांधीजी के शब्दों में, भारत ही नहीं सारी दुनिया की सच्ची आजादी के लिए अनिवार्य है, अपरिचित रही। आजाद भारत से गांधीजी ने क्या आशा रखी थी और उससे उनकी क्या अपेक्षा थी, वह विस्मृति के गाल में चला गया।

पिछले वर्षों के संसारव्यापी युवक-विद्रोह ने यह तो स्पष्ट कर दिया है कि नयी पीढ़ी दुनिया की मौजूदा व्यवस्था, तरीकों और मूल्यों से उकता गयी है। अब वह और ज्यादा बर्दाश्त करना नहीं चाहती। लेकिन जीवन के सिद्धान्तों का उसे भान न होने के कारण वह केवल पुरानी व्यवस्था को तोड़-फोड़कर अपना गुस्सा शान्त कर रही है, जो बिलकुल स्वाभाविक है। हो सकता है कि अन्ततोगत्वा यह भी भ्रम साबित हो, लेकिन मुझे लगता है कि शायद समाज-रचना के बारे में गांधीजी के सीधे-सादे नुस्खे, और अन्याय के प्रतिकार तथा समाज-परिवर्तन के बारे में उनके क्रान्तिकारी विचारों से दुनिया की नौजवान पीढ़ी को प्रकाश मिले। गांधी के विचार कितने मौलिक और क्रान्तिकारी थे, इसका सबूत उससे बढ़कर क्या होगा जो आइन्स्टीन जैसे विश्व-विख्यात वैज्ञानिक द्वारा उनके बारे में कहे हुए शब्दों में निहित है।—
"सदियों बाद आनेवाली पीढ़ियाँ शायद इस बात पर आश्चर्य करेंगी कि हाड़-मांस का ऐसा पुतला कभी इस पृथ्वी पर चला था।"

गांधीजी की दृष्टि में आजाद भारत का दुनिया के लिए क्या पैगाम था और उसके जरिये शोषण और विषमता तथा अन्याय और गरीबी से त्रस्त मानव-जाति के लिए वे किस प्रकार के मार्गदर्शन की अपेक्षा

रखते थे, यह उन्हीं के शब्दों में इस छोटी-सी पुस्तक में संकलित है। स्वर्गीय श्री आर. के. प्रभु द्वारा संग्रहीत गांधीजी के 'मेरे सपनों का भारत' का यह एक तरह से संक्षिप्त संस्करण है। लेकिन विचारों को शृंखलाबद्ध पेश करने के लिए उन संग्रहीत विचारों का पुनर्वर्गीकरण और सम्पादन नये सिरे से किया गया है।

इस काम में समय, शक्ति लगी, उसका मुआवजा मेरे अपने विचारों की सफ़ाई और पुष्टि के रूप में मुझे पर्याप्त मात्रा में मिल चुका है। पर पुरानी पीढ़ी ने गांधीजी का जिस प्रकार का विकृत चित्र पेश किया है, उसे भूलकर अगर आज की नयी पीढ़ी गांधीजी के खुद के शब्दों में गांधीजी के इन विचारों को समझने की कोशिश करेगी, तो उन्हें भी आज के अन्धकारमय वातावरण में शायद कुछ प्रकाश मिलेगा।

मानव चन्द्र-यात्रा दिवस
२१ जुलाई, १९६९

–सिद्धराज ढड्ढा

अनुक्रम

खण्ड-३ : आह्वान

परिशिष्ट :

●

बापू के सपनों का भारत

मेरी दृष्टि में गांधी-शताब्दी का वर्ष हमारे लिए ईश्वर का दिया हुआ एक स्वर्ण अवसर है। यदि हम अपनी विभिन्न राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने के लिए एक बार फिर महात्मा गांधी के विचारों का गम्भीर चिन्तन करें तो हम आज भी कई जटिल सवालों को हल करने में सफल हो सकते हैं। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि गांधी-शताब्दी के अवसर का लाभ उठाकर हम पूज्य बापूजी के विचारों का सारे देश में व्यापक प्रचार करें। इस दृष्टि से मैं सर्व सेवा संघ की 'गांधी-जन्म-शताब्दी सर्वोदय-साहित्य-योजना' का हार्दिक स्वागत करता हूँ।

'मेरे सपनों का भारत' पुस्तक कई वर्ष पहले नवजीवन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित की गयी थी और उसका सम्पादन श्री आर. के. प्रभु ने बड़ी योग्यता से किया था। इसी पुस्तक को अब सर्व सेवा संघ द्वारा कुछ संक्षिप्त रूप में जनता के अधिक व्यापक उपयोग के लिए प्रकाशित किया जा रहा है। इस पुस्तक में विभिन्न विषयों पर जाहिर किये गये गांधीजी के बुनियादी विचारों का संकलन किया गया है। देश के जिन नवयुवकों ने स्वतंत्र भारत में जन्म लिया है, उन्हें बापू को देखने या सुनने का अवसर नहीं मिला। उन्होंने उनके विचारों व आदर्शों के बारे में भी बहुत कम पढ़ा है; उस पर चिन्तन करने का तो उन्हें विशेष मौका ही नहीं मिला है। इसलिए यह आवश्यक है कि इस पुस्तक द्वारा राष्ट्रपिता के विचारों को हमारे नवयुवकों तक खास तौर पर पहुँचाया

जाय, ताकि वे उन्हें पढ़कर बापू के सपनों के अनुसार नये भारत को बनाने में सक्रिय हिस्सा ले सकें।

संक्षेप में, बापू के बुनियादी विचार क्या थे? गांधीजी भारत के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त करते थे, क्योंकि वे इस देश से बड़ी आशाएँ रखते थे। उनकी नजर में भारत एक 'कर्मभूमि' है, 'भोगभूमि' नहीं। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि 'भारत अपनी अहिंसा के जरिये सारे विश्व के लिए शान्ति के दूत का काम करे।' उनका दृढ़ विश्वास था कि 'भारत का भविष्य पश्चिम के उस रक्त-रंजित मार्ग पर नहीं है, जिसपर चलते-चलते पश्चिम अब खुद थक गया है, उसका भविष्य तो सरल धार्मिक जीवन द्वारा प्राप्त शान्ति के अहिंसक रास्ते पर चलने में ही है।' बापू ने हमेशा साधनों की शुद्धि पर बहुत जोर दिया। उन्होंने अपनी आत्मकथा को भी 'सत्य के प्रयोग' शीर्षक दिया। वे स्वराज्य के लिए भी असत्य और हिंसा का प्रयोग निषिद्ध समझते थे। उन्होंने कई बार कहा था कि मैं भारत की आजादी के लिए सब-कुछ त्यागने को तैयार हूँ, किन्तु सत्य और अहिंसा को नहीं। वे 'सादा जीवन और उच्च चिन्तन' के आदर्श को ही सर्वोपरि मानते थे।

गांधीजी अकसर कहा करते थे, स्वराज्य एक पवित्र शब्द है, वह एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ आत्मशासन और आत्मसंयम है। इसलिए सच्चा स्वराज्य हमारी 'आन्तरिक शान्ति' पर निर्भर करता है। बापू हमें बार-बार समझाते थे कि 'यदि स्वराज्य हो जाने पर लोग अपने जीवन की हर छोटी बात के नियमन के लिए सरकार का मुँह ताकना शुरू कर दें, तो वह स्वराज्य-सरकार किसी काम की नहीं होगी।' उनकी आकांक्षा थी कि 'स्वतंत्र भारत में गरीब-से-गरीब लोग भी यह महसूस करें कि वह उनका देश है और उसके निर्माण में उनकी आवाज का महत्त्व है।' इस प्रकार का स्वराज्य तभी स्थापित हो सकता है, जब कि समाज सत्य और अहिंसा के शुद्ध साधनों का ही उपयोग

करे और जनता का पारस्परिक सहयोग और सद्भाव हो। गांधीजी ने बुलन्द आवाज से कहा था कि 'लोकतंत्र और हिंसा का मेल नहीं बैठ सकता।' सच्चे प्रजातंत्र में 'नीचे-से-नीचे और ऊँचे-से-ऊँचे आदमी को समान अवसर मिलने चाहिए।' इसीलिए 'सच्ची लोकशाही केन्द्र में बैठे हुए दस-बीस आदमी नहीं चला सकते, वह तो नीचे से हरएक गाँव के लोगों द्वारा चलायी जानी चाहिए।' इस दृष्टि से बापू ग्राम-पंचायतों के विकास के लिए बहुत उत्सुक थे। उन्होंने असंख्य बार दोहराया था कि 'भारत अपने चन्द शहरों में नहीं, बल्कि अपने सात लाख गाँवों में बसा हुआ है।' जब तक हमारे गाँवों का समग्र दृष्टि से समुचित विकास नहीं किया जायेगा, तब तक बापू के सपनों के भारत का निर्माण करना अशक्य होगा।

बापू चाहते थे कि ग्रामस्वराज्य एक ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र हो, जिसमें हमारी बुनियादी जरूरतें स्वावलम्बन के आधार पर पूरी की जा सकें, और अन्न व वस्त्र के लिए दूसरों पर निर्भर न रहना पड़े। वे चाहते थे कि हरएक गाँव में एक नाटकशाला, पाठशाला और सभा-भवन रहे, सभी के लिए पीने के पानी का इन्तजाम हो, बुनियादी तालीम सब बच्चों के लिए उपलब्ध हो और गाँवों के सारे काम सहयोग के आधार पर किये जायँ। ग्राम-समाज में जाति-पाँति और अस्पृश्यता जैसे भेद बिलकुल न रहें, हमारे गाँवों में स्वच्छता की पूरी व्यवस्था रहे, झोंपड़ियों में पर्याप्त प्रकाश और हवा का प्रबन्ध हो और उनके निर्माण में स्थानीय सामान का ही यथासम्भव उपयोग किया जाय। खादी के अलावा हमारे गाँवों में कुटीर-उद्योगों को स्थापित किया जाय, ताकि हरएक को अपने जीवन-निर्वाह के लिए रोजगार मिल सके।

अकसर यह समझा जाता है कि गांधीजी मशीनों के बिलकुल विरुद्ध थे। यह एक बड़ी गलतफहमी है, जिसे दूर करना चाहिए। बापू ने बहुत बार समझाया था कि वे यंत्रों के विरुद्ध नहीं हैं, किन्तु 'यंत्रों के

दीवानेपन' के खिलाफ हैं। उन्होंने कई बार लिखा था, 'यंत्रों से काम लेना उसी अवस्था में अच्छा होता है, जब किसी निर्धारित काम को पूरा करने के लिए आदमी बहुत ही कम हों।' लेकिन भारत जैसे देश में तो लाखों-करोड़ों लोग बेकार हैं, ऐसी अवस्था में यंत्रीकरण से यहाँ की बेकारी और बढ़ेगी। विदेशों में बेकार लोगों को घर बैठे 'डोल' या भत्ता दिया जाता है। किन्तु भारत जैसे गरीब देश में इस प्रकार रुपया खर्च करने से तो देश का दिवाला निकल जायेगा। इस परिस्थिति में लोगों को विकेन्द्रित उद्योगों द्वारा काम देकर रोज़ी देना ही एक व्यावहारिक योजना मानी जा सकती है। गांधीजी यह मानते थे कि भारत के आर्थिक संयोजन में कुछ बड़े पैमाने के उद्योगों को भी स्थान देना होगा। लेकिन उनकी धारणा थी कि इस प्रकार के बड़े उद्योगों की मालिकी राज्य की हो, व्यक्तियों की नहीं।

बापू चाहते थे कि भारत एक 'सेक्यूलर स्टेट' बने और उसमें सभी धर्मों के प्रति समान आदर हो। 'सेक्यूलर' का यह कदापि अर्थ नहीं कि देश में मजहब का स्थान न हो; उसका सच्चा अर्थ 'सर्वधर्म-समभाव' ही हो सकता है। गांधीजी ने ऊँची आवाज से दोहराया था कि 'कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि भारतीय स्वराज्य तो ज्यादा संख्यावाले समाज का यानी हिन्दुओं का ही राज्य होगा, लेकिन इस मान्यता से ज्यादा बड़ी कोई दूसरी गलती नहीं हो सकती।' 'मेरे लिए 'हिन्द स्वराज्य' का अर्थ सब लोगों का राज्य, न्याय का राज्य है।' वह 'गरीबों का राज्य' होगा, जिसमें सभी जाति, धर्म व भाषा की जनता को बराबरी का स्थान होगा। उसमें न कोई नंगा-भूखा रहेगा, न कोई बेपढ़ा-लिखा होगा, न कोई बेरोजगार होगा। उसमें किसी भी तरह का भेदभाव नहीं रहना चाहिए।

गांधीजी का 'सर्वोदय-समाज' सत्य और अहिंसा पर ही आधारित हो सकता है। उनकी राय में वर्तमान साम्यवाद और समाजवाद भी हिंसा व वर्ग-कलह की बुनियाद पर रचा जाता है। इस प्रकार का समाजवाद

भारत के लिए उपयुक्त नहीं है। भारतीय समाजवाद या साम्यवाद तो ईशोपनिषद् के पहले ही श्लोक में स्पष्ट रूप से मिल जाता है :

'ईशावास्यम् इदम् सर्वम्
यत् किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः
मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।'*

इसीलिए बापू पश्चिम के सिद्धान्तों पर आधारित साम्यवाद के बिलकुल खिलाफ थे। यद्यपि सर्वोदय और साम्यवाद के अन्तिम ध्येय समान हैं, फिर भी उनके काम करने के तरीके मूलतः भिन्न हैं। भारत का संयोजन आर्थिक व आध्यात्मिक सन्तुलित विकास की बुनियाद पर ही निर्मित किया जाना चाहिए।

इस संकलन में इन सभी विषयों पर महात्मा गांधी के विचारों का उन्हीं की भाषा में विवेचन किया गया है। इसमें बापू के रचनात्मक कार्यक्रम के विविध पहलुओं पर भी बहुत उपयोगी विचार संग्रहीत हैं। खादी, ग्रामोद्योग, गो-सेवा, राष्ट्र-भाषा, मद्य-निषेध, बुनियादी शिक्षा और अस्पृश्यता के सम्बन्ध में बापू के विचार काफी विस्तार से दिये गये हैं। स्त्री-शक्ति, शान्ति-सेना और सत्याग्रह के बारे में गांधीजी का दृष्टिकोण समझने में भी इस पुस्तक से बहुत सहायता मिलेगी। मैं आशा करता हूँ कि इस प्रकाशन का सारे भारत में और विशेषकर हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में समुचित स्वागत किया जायेगा।

राजभवन, अहमदाबाद
२ अगस्त, १९६९ —श्रीमन्नारायण

---

* **ईश का आवास यह सारा जगत्,**
जीवन यहाँ जो कुछ उसी से व्याप्त है।
अतएव करके त्याग उसके नाम से,
तू भोगकर उसका, तुझे जो प्राप्त है।

आखिरी वसीयतनामा*

देश का बँटवारा होते हुए भी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा मुहैया किये गये साधनों के जरिये हिन्दुस्तान को आजादी मिल जाने के कारण मौजूदा स्वरूपवाली कांग्रेस का काम अब खतम हुआ—यानी प्रचार के वाहन और धारासभा की प्रवृत्ति चलानेवाले तंत्र के नाते उसकी उपयोगिता अब समाप्त हो गयी है। शहरों और कसबों से भिन्न उसके सात लाख गाँवों की दृष्टि से हिन्दुस्तान की सामाजिक, नैतिक और आर्थिक आजादी हासिल करना अभी बाकी है। लोकशाही के मकसद की तरफ हिन्दुस्तान की प्रगति के दरमियान सैनिक सत्ता पर नागरिक सत्ता को प्रधानता देने की लड़ाई अनिवार्य है। कांग्रेस को हमें राजनीतिक पार्टियों और साम्प्रदायिक संस्थाओं के साथ की गन्दी होड़ से बचाना चाहिए। इन और ऐसे ही दूसरे कारणों से अखिल भारत कांग्रेस कमेटी नीचे दिये हुए नियमों के मुताबिक अपनी मौजूदा संस्था को तोड़ने और लोक-सेवक-संघ के रूप में प्रकट होने का निश्चय करे। जरूरत के मुताबिक इन नियमों में फेरफार करने का इस संघ को अधिकार रहेगा।

गाँववाले या गाँववालों के जैसी मनोवृत्तिवाले पाँच वयस्क पुरुषों या स्त्रियों की बनी हुई हरएक पंचायत एक इकाई बनेगी।

---

* गांधीजी ने अपने महाप्रयाण के एक दिन पूर्व ता. २९ जनवरी'४८ को एक वक्तव्य लिखा था, जो उनका आखिरी वसीयतनामा माना जाता है, वह यहाँ दिया जा रहा है।
—सं०

पास-पास की ऐसी हर दो पंचायतों की, उन्हीं में से चुने हुए एक नेता की रहनुमाई में, एक काम करनेवाला दल बनेगा।

जब ऐसी १०० पंचायतें बन जायँ, तब पहले दरजे के पचास नेता अपने में से दूसरे दरजे का एक नेता चुनें और इस तरह पहले दरजे का नेता दूसरे दरजे के नेता के मातहत काम करे। दो सौ पंचायतों के ऐसे जोड़ कायम करना तब तक जारी रखा जाय, जब तक कि वे पूरे हिन्दुस्तान को न ढँक लें। और बाद में कायम की गयी पंचायतों का हरएक समूह पहले की तरह दूसरे दरजे का नेता चुनता जाय। दूसरे दरजे के नेता सारे हिन्दुस्तान के लिए सम्मिलित रीति से काम करें और अपने-अपने प्रदेशों में अलग-अलग काम करें। जब जरूरत महसूस हो, तब दूसरे दरजे के नेता अपने में से एक मुखिया चुनें, और वह मुखिया चुननेवाले चाहें तब तक सब समूहों को व्यवस्थित करके उनकी रहनुमाई करें।

२९-१-'४८

—मो० क० गांधी

खण्ड : १

सन्देश

१. भारत और उसका सन्देश

भारत मेरे लिए दुनिया का सबसे प्यारा देश है, इसलिए नहीं कि वह मेरा देश है, लेकिन इसलिए कि मैंने इसमें उत्कृष्ट अच्छाई का दर्शन किया है।[१] भारत की हर चीज मुझे आकर्षित करती है। सर्वोच्च आकांक्षाएँ रखनेवाले किसी व्यक्ति को अपने विकास के लिए जो कुछ चाहिए, वह सब उसे भारत में मिल सकता है।[२]

भारत अपने मूल स्वरूप में 'कर्मभूमि' है, 'भोगभूमि' नहीं।[३]

भारत दुनिया के उन इने-गिने देशों में से है, जिन्होंने अपनी अधिकांश पुरानी संस्थाओं को, यद्यपि उन पर अन्ध-विश्वास और भूल-भ्रान्तियों की काई चढ़ गयी है, कायम रखा है। साथ ही वह अभी तक अन्ध-विश्वास और भूल-भ्रन्तियों की इस काई को दूर करने की, और इस तरह अपना शुद्ध रूप प्रकट करने की, अपनी सहज क्षमता भी रखता है।[४]

मैं भारत की भक्ति करता हूँ, क्योंकि मेरे पास जो कुछ भी है, वह सब उसी का दिया हुआ है। मेरा पूरा विश्वास है कि उसके पास सारी दुनिया के लिए एक सन्देश है। उसे यूरोप का अन्धानुकरण नहीं करना है।[५]

भारत की विशेषता

मेरा विश्वास है कि भारत का ध्येय दूसरे देशों के ध्येय से कुछ अलग है। भारत में ऐसी योग्यता है कि वह धर्म के क्षेत्र में दुनिया में

सबसे बड़ा हो सकता है। भारत ने आत्मशुद्धि के लिए स्वेच्छापूर्वक जैसा प्रयत्न किया है, उसका दुनिया में कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। भारत को फौलाद के हथियारों की उतनी आवश्यकता नहीं है, वह दैवी हथियारों से लड़ा है और आज भी वह उन्हीं हथियारों से लड़ सकता है। दूसरे देश पशुबल के पुजारी रहे हैं।...भारत अपने आत्मबल से सबको जीत सकता है। इतिहास इस सचाई के चाहे जितने प्रमाण दे सकता है कि पशुबल आत्मबल की तुलना में कुछ नहीं है।[६]

मैं यह सोचना पसन्द करूँगा कि भारत अपनी अहिंसा के जरिए सारे विश्व के शान्ति के दूत का काम करे।[७]...भारत का भविष्य पश्चिम के उस रक्त-रंजित मार्ग पर नहीं है, जिस पर चलते-चलते पश्चिम अब खुद थक गया है, उसका भविष्य तो सरल धार्मिक जीवन द्वारा प्राप्त शान्ति के अहिंसक रास्ते पर चलने में ही है। भारत के सामने इस समय अपनी आत्मा को खोने का खतरा उपस्थित है। और यह सम्भव नहीं है कि अपनी आत्मा को खोकर भी वह जीवित रह सके। इसलिए आलसी की तरह उसे लाचारी प्रकट करते हुए ऐसा नहीं कहना चाहिए कि 'पश्चिम की इस बाढ़ से मैं बच नहीं सकता।' अपनी और दुनिया की भलाई के लिए उस बाढ़ को रोकने योग्य शक्तिशाली तो उसे बनना ही होगा।[८]...मैं भारत को स्वतंत्र और बलवान् बना हुआ देखना चाहता हूँ, क्योंकि मैं चाहता हूँ कि वह दुनिया के भले के लिए स्वेच्छापूर्वक अपनी पवित्र आहुति दे सके।[९]

पश्चिम की नकल न करें

मैं यह मानने जितना नम्र तो हूँ ही कि पश्चिम के पास बहुत-कुछ ऐसा है, जिसे हम उससे ले सकते हैं, पचा सकते हैं और लाभान्वित हो सकते हैं। ज्ञान किसी एक देश या जाति के एकाधिकार की वस्तु नहीं है। पाश्चात्य सभ्यता का मेरा विरोध असल में उस विचारहीन और विवेकहीन नकल का विरोध है, जो यह मानकर की जाती है कि

एशिया-निवासी तो पश्चिम से आनेवाली हरएक चीज की नकल करने जितनी ही योग्यता रखते हैं।...मैं दृढ़तापूर्वक विश्वास करता हूँ कि यदि भारत ने कष्ट और तपस्या की आग में से गुजरने जितना धीरज दिखाया और अपनी सभ्यता पर—जो अपूर्ण होते हुए भी अभी तक काल के प्रभाव को झेल सकी है—किसी भी दिशा से कोई अनुचित आक्रमण न होने दिया, तो वह दुनिया की शान्ति और ठोस प्रगति में स्थायी योगदान कर सकता है।[१०]

यूरोपीय सभ्यता बेशक यूरोप के निवासियों के लिए अनुकूल है, लेकिन यदि हमने उसकी नकल करने की कोशिश की, तो भारत के लिए उसका अर्थ अपना नाश कर लेना होगा। इसका यह मतलब नहीं कि उसमें जो कुछ अच्छा और हम पचा सकें ऐसा हो, उसे हम लें नहीं या पचायें नहीं। इसी तरह उसका यह मतलब भी नहीं कि उस सभ्यता में जो दोष घुस गये हैं, उन्हें यूरोपियनों को दूर नहीं करना पड़ेगा।

शारीरिक सुख-सुविधाओं की सतत खोज और उनकी संख्या में तेजी से हो रही वृद्धि ऐसा ही एक दोष है, और मैं साहसपूर्वक यह घोषणा करता हूँ कि जिन सुख-सुविधाओं के वे गुलाम बनते जा रहे हैं, उनके बोझ से यदि उन्हें कुचल नहीं जाना है, तो यूरोपीय लोगों को अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा। सम्भव है मेरा यह निष्कर्ष गलत हो, लेकिन यह मैं निश्चयपूर्वक जानता हूँ कि भारत के लिए इस सुनहले माया-मृग के पीछे दौड़ने का अर्थ आत्मनाश के सिवा और कुछ न होगा। हमें अपने हृदयों पर एक पाश्चात्य तत्त्ववेत्ता का यह बोध वाक्य अंकित कर लेना चाहिए—'सादा जीवन और उच्च चिन्तन'। आज तो यह निश्चित है कि हमारे लाखों-करोड़ों लोगों के लिए सुख-सुविधाओं वाला उच्च जीवन सम्भव नहीं है और हम मुट्ठीभर लोग, जो सामान्य जनता के लिए चिन्तन करने का दावा करते हैं, सुख-सुविधाओंवाले उच्च जीवन की निरर्थक उच्च चिन्तन को खोने की जोखिम उठा रहे हैं।[११]

आत्मत्याग का आदर्श

मैंने भारत के समक्ष आत्मत्याग का पुराना आदर्श रखने का साहस किया है। सत्याग्रह और उसकी शाखाएँ, असहयोग और सविनय कानून-भंग, तपस्या के ही दूसरे नाम हैं। इस हिंसामय जगत् में जिन्होंने अहिंसा का नियम ढूँढ़ निकाला, वे ऋषि न्यूटन से कहीं ज्यादा बड़े आविष्कारक थे। वे वेलिंग्टन से ज्यादा बड़े योद्धा थे। वे शस्त्रास्त्रों का उपयोग जानते थे और उन्हें उनकी व्यर्थता का निश्चय हो गया था। और तब उन्होंने हिंसा से ऊबी हुई दुनिया को सिखाया कि उसे अपनी मुक्ति का रास्ता हिंसा में नहीं, बल्कि अहिंसा में मिलेगा। अपने सक्रिय रूप में अहिंसा का अर्थ है—ज्ञानपूर्वक कष्ट सहना। उसका अर्थ अन्यायी की इच्छा के आगे दबकर घुटने टेकना नहीं है, उसका अर्थ यह नहीं है कि अत्याचारी की इच्छा के खिलाफ अपनी आत्मा की सारी शक्ति लगा दी जाय। जीवन के इस नियम के अनुसार चलकर तो कोई अकेला आदमी भी अपने सम्मान, धर्म और आत्मा की रक्षा के लिए किसी अन्यायी साम्राज्य के सम्पूर्ण बल को चुनौती दे सकता है और इस तरह उस साम्राज्य के नाश या सुधार की नींव रख सकता है। और इसलिए मैं भारत से अहिंसा को अपनाने के लिए कह रहा हूँ तो उसका कारण यह नहीं है कि भारत कमजोर है। बल्कि मुझे उसके बल और उसकी वीरता का भान है, इसीलिए मैं यह चाहता हूँ कि वह अहिंसा के रास्ते पर चले। उसे अपनी शक्ति को पहचानने के लिए शस्त्रास्त्रों की तालीम की जरूरत नहीं है। हमें उसकी जरूरत इसलिए मालूम होती है कि हम समझते हैं कि हम शरीर-मात्र हैं। मैं चाहता हूँ कि भारत इस बात को पहचान ले कि वह शरीर नहीं, बल्कि अमर आत्मा है, जो हरएक शारीरिक कमजोरी के ऊपर उठ सकती है और सारी दुनिया के सम्मिलित शारीरिक बल को चुनौती दे सकती है।[१२]

भारत की हिन्दू-मुसलमान, सिख या गोरखा आदि सैनिक जातियों की वैयक्तिक वीरता और साहस से यह सिद्ध है कि भारतीय प्रजा

कायर नहीं है। मेरा मतलब इतना ही है कि युद्ध और रक्तपात भारत को प्रिय नहीं है। और सम्भवत: दुनिया के भावी विकास में उसे कोई ऊँचा हिस्सा अदा करना है। यह तो समय हीं बताएगा कि उसका भविष्य क्या होनेवाला है।[१३]

भारत ने कभी किसी राष्ट्र के खिलाफ युद्ध नहीं चलाया। हाँ, शुद्ध आत्मरक्षा के लिए उसने आक्रमणकारियों के खिलाफ कभी-कभी विरोध का असफल या अधूरा संगठन अवश्य किया है। इसलिए उसे शान्ति की आकांक्षा पैदा करने की जरूरत नहीं है। शान्ति की आकांक्षा तो उसमें विपुल मात्रा में मौजूद ही है, भले वह इस बात को जाने या न जाने। शान्ति की वृद्धि के लिए उसे शान्तिमय साधनों द्वारा अपने शोषण को रोकने की कोशिश करनी चाहिए, यानी उसे शान्तिमय साधनों द्वारा अपनी स्वतंत्रता हासिल करनी चाहिए। अगर वह सफलतापूर्वक ऐसा कर सके, तो यह विश्वशान्ति की दिशा में किसी एक देश द्वारा दी जा सकनेवाली उसकी ज्यादा-से-ज्यादा मदद होगी।[१४]

मुझसे कितने ही लोगों ने सन्देह से सिर डुलाते हुए कहा है : 'लेकिन आप सामान्य जनता को अहिंसा नहीं सिखा सकते। अहिंसा का पालन केवल व्यक्ति ही कर सकते हैं और सो भी विरले व्यक्ति।' मेरी राय में यह धारणा एक मोटी भूल है। यदि मनुष्य-जाति आदतन अहिंसक न होती, तो उसने युगों पहले अपने हाथों अपना नाश कर लिया होता। लेकिन हिंसा और अहिंसा के पारस्परिक संघर्ष में अन्त में अहिंसा ही सदा विजयी सिद्ध हुई है। सच तो यह है कि हमने राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लोगों में अहिंसा की शिक्षा के प्रसार की पूरी कोशिश करने जितना धीरज ही कभी प्रकट नहीं किया।[१५]

मेरे सपनों का भारत

मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूँगा, जिसमें गरीब से गरीब लोग भी यह महसूस करेंगे कि वह उनका देश है—जिसके निर्माण में उनकी

आवाज का महत्त्व है। मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूँगा, जिसमें ऊँचे और नीचे वर्गों का भेद नहीं होगा और जिसमें विविध सम्प्रदायों में पूरा मेलजोल होगा। ऐसे भारत में अस्पृश्यता, शराब या और दूसरी नशीली चीजों के अभिशाप के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। उसमें स्त्रियों को वही अधिकार होंगे जो पुरुषों को। चूँकि शेष सारी दुनिया के साथ हमारा सम्बन्ध शान्ति का होगा, यानी न तो हम किसी का शोषण करेंगे और न किसी के द्वारा अपना शोषण होने देंगे, इसलिए हमारी सेना छोटी-से-छोटी होगी। ऐसे सब हितों का, जिनका करोड़ों मूक लोगों के हितों से कोई विरोध नहीं है, पूरा सम्मान किया जायेगा, फिर वे देशी हों या विदेशी। अपने लिए तो मैं यह भी कह सकता हूँ कि मैं देशी और विदेशी के फर्क से नफरत करता हूँ। यह है मेरे सपनों का भारत।...इससे भिन्न किसी चीज से मुझे सन्तोष नहीं होगा।[१६]

यदि भारत ने हिंसा को अपना धर्म स्वीकार कर लिया और यदि उस समय मैं जीवित रहा, तो मैं भारत में नहीं रहना चाहूँगा। तब यह मेरे मन में गर्व की भावना उत्पन्न नहीं करेगा। मेरा देश-प्रेम मेरे धर्म द्वारा नियंत्रित है। मैं भारत से उसी तरह बँधा हुआ हूँ, जिस तरह कोई बालक अपनी माँ की छाती से चिपटा रहता है, क्योंकि मैं महसूस करता हूँ कि वह मुझे मेरा आवश्यक आध्यात्मिक पोषण देता है। उसके वातावरण से मुझे अपनी उच्चतम आकांक्षाओं की पुकार का उत्तर मिलता है यदि किसी कारण मेरा यह विश्वास हिल जाय या चला जाय, तो मेरी दशा उस अनाथ जैसी होगी, जिसे अपना पालक पाने की आशा ही न रही हो।[१७]

यदि भारत तलवार की नीति अपनाये तो वह क्षणिक विजय पा सकता है। लेकिन तब भारत मेरे गर्व का विषय नहीं रहेगा।...भारत द्वारा तलवार का स्वीकार मेरी कसौटी की घड़ी होगी। मैं आशा करता हूँ कि उस कसौटी पर मैं खरा उतरूँगा। मेरा धर्म भौगोलिक सीमाओं से मर्यादित नहीं है। यदि उसमें (धर्म में) मेरा जीवन्त विश्वास है, तो वह मेरे भारत-प्रेम का भी अतिक्रमण कर जायेगा।[१८]

२. स्वराज्य का अर्थ

'स्वराज्य' एक पवित्र शब्द है। वह एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ आत्म-शासन और आत्म-संयम है। अंग्रेजी शब्द 'इण्डिपेंडेंस' अकसर सब प्रकार की मर्यादाओं से मुक्त निरंकुश आजादी का या स्वच्छंदता का अर्थ देता है, वह अर्थ स्वराज्य शब्द में नहीं है।[१]

स्वराज्य से मेरा अभिप्राय है—लोक-सम्मति के अनुसार होने वाला भारतवर्ष का शासन। लोक-सम्मति का निश्चय देश के बालिग लोगों की बड़ी-से-बड़ी तादाद के मत के जरिए से हो, फिर वे चाहे स्त्रियाँ हों या पुरुष, इसी देश के हों या इस देश में आकर बस गये हों। वे लोग ऐसे हों जिन्होंने अपने शारीरिक श्रम द्वारा राज्य की कुछ सेवा की हो और जिन्होंने मतदाताओं की सूची में अपना नाम लिखवा लिया हो।...सच्चा स्वराज्य थोड़े लोगों द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेने से नहीं, बल्कि जब सत्ता का दुरुपयोग होता हो तब सब लोगों द्वारा उसका प्रतिकार करने की क्षमता प्राप्त करके हासिल किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, स्वराज्य जनता में इस बात का ज्ञान पैदा करके प्राप्त किया जा सकता है कि सत्ता पर कब्जा करने और उसका नियमन करने की क्षमता उसमें है।[२]

आखिर स्वराज्य निर्भर करता है हमारी आन्तरिक शक्ति पर, बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों से जूझने की हमारी ताकत पर। सच पूछो तो वह स्वराज्य, जिसे पाने के लिए अनवरत प्रयत्न और बचाये रखने के लिए सतत जाग्रति नहीं चाहिए, स्वराज्य कहलाने के लायक ही नहीं है। स्त्री-पुरुषों के विशाल समूह का राजनीतिक स्वराज्य एक-एक सख्श के अलग-अलग स्वराज्य से कोई ज्यादा अच्छी (या भिन्न) चीज नहीं है और इसलिए उसे पाने का तरीका वही है, जो एक-एक आदमी के आत्म-स्वराज्य या आत्म-संयम का है।[३]

मेरे सपनों का स्वराज्य

मेरे...सपनों के स्वराज्य में जाति (रेस) या धर्म के भेदों का कोई स्थान नहीं हो सकता। उस पर शिक्षितों या धनवानों का एकाधिपत्य नहीं होगा। वह स्वराज्य सबके लिए—सबके कल्याण के लिए होगा। सबकी गिनती में किसान तो आते ही हैं, किन्तु लूले, लँगड़े, अन्धे और भूख से मरनेवाले लाखों-करोड़ों मेहनतकश मजदूर भी अवश्य आते हैं।[४]

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि भारतीय स्वराज्य तो ज्यादा संख्या वाले समाज का यानी हिन्दुओं का ही राज्य होगा। इस मान्यता से ज्यादा बड़ी कोई दूसरी गलती नहीं हो सकती। अगर यह सही सिद्ध हो तो अपने लिए मैं ऐसा कह सकता हूँ कि मैं उसे स्वराज्य मानने से इनकार कर दूँगा और अपनी सारी शक्ति लगाकर उसका विरोध करूँगा। मेरे लिए हिन्द स्वराज्य का अर्थ सब लोगों का राज्य, न्याय का राज्य है।[५]

स्वराज्य...जितना किसी राजा के लिए होगा उतना ही किसान के लिए, जितना किसी धनवान् जमींदार के लिए होगा उतना ही भूमिहीन खेतिहर के लिए, जितना हिन्दुओं के लिए होगा उतना ही मुसलमानों के लिए, जितना जैन, यहूदी और सिख लोगों के लिए होगा उतना ही पारसियों और ईसाइयों के लिए। उसमें जाति-पाँति, धर्म या दरजे के भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं होगा।[६]

मेरे सपने का स्वराज्य तो गरीबों का स्वराज्य होगा। जीवन की जिन आवश्यकताओं का उपभोग राजा और अमीर लोग करते हैं, वही गरीबों को भी सुलभ होनी चाहिए, इसमें फर्क के लिए स्थान नहीं हो सकता। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे पास उनके जैसे महल होने चाहिए। सुखी जीवन के लिए महलों की कोई आवश्यकता नहीं। हमें महलों में रख दिया जाय तो हम घबड़ा जायँ। लेकिन जीवन की वे सामान्य सुविधाएँ गरीबों को भी अवश्य मिलनी चाहिए, जिनका उपभोग अमीर आदमी करता है। मुझे इस बात में बिलकुल सन्देह नहीं है कि

हमारा स्वराज्य तब तक पूर्ण स्वराज्य नहीं होगा, जब तक वह गरीबों को ये सारी सुविधाएँ देने की पूरी व्यवस्था नहीं कर देता।[७]

स्वराज्य की मेरी कल्पना के विषय में किसी को कोई गलतफहमी नहीं होनी चाहिए। उसका अर्थ विदेशी नियंत्रण से पूरी मुक्ति और पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता है। उसके दो दूसरे उद्देश्य भी हैं : एक छोर पर है नैतिक और सामाजिक उद्देश्य और दूसरे छोर पर इसी कक्षा का दूसरा उद्देश्य है धर्म। यहाँ 'धर्म' शब्द का सर्वोच्च अर्थ अभीष्ट है। उसमें हिन्दू-धर्म, इस्लाम, ईसाई-धर्म आदि सबका समावेश होता है, लेकिन वह इन सबसे ऊँचा है।...इसे हम स्वराज्य का समचतुर्भुज कह सकते हैं, यदि उसका एक भी कोण विषम हुआ तो उसका रूप विकृत हो जायेगा।[८]

अगर स्वराज्य का अर्थ हमें सभ्य बनाना और हमारी सभ्यता को अधिक शुद्ध तथा मजबूत बनाना न हो, तो वह किसी कीमत का नहीं होगा। हमारी सभ्यता का मूल तत्त्व ही यह है कि हम अपने सब कामों में, फिर वे निजी हों या सार्वजनिक, नीति के पालन को सर्वोच्च स्थान देते हैं।[९]

अहिंसक समाज ही सच्चा स्वराज्य

मेरी कल्पना का स्वराज्य तभी आयेगा, जब हमारे मन में यह बात अच्छी तरह जम जाय कि हमें अपना स्वराज्य सत्य और अहिंसा के शुद्ध साधनों द्वारा ही हासिल करना है, उन्हीं के द्वारा हमें उसका संचालन करना है और उन्हीं के द्वारा हमें उसे कायम रखना है। सच्ची लोकसत्ता या जनता का स्वराज्य कभी भी असत्यमय और हिंसक साधनों से नहीं आ सकता। कारण स्पष्ट और सीधा है। यदि असत्यमय और हिंसक उपायों का प्रयोग किया गया, तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि सारा विरोध या तो विरोधियों को दबाकर या इनका नाश करके खतम कर दिया जायेगा। ऐसी स्थिति में वैयक्तिक

स्वतंत्रता की रक्षा नहीं हो सकती। वैयक्तिक स्वतंत्रता को प्रकट होने का पूरा अवकाश केवल विशुद्ध अहिंसा पर आधारित शासन में ही मिल सकता है।[१०]

अहिंसा पर आधारित स्वराज्य में लोगों को अपने अधिकारों का ज्ञान न हो तो कोई बात नहीं, लेकिन उन्हें अपने कर्तव्यों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। हरएक कर्तव्य के साथ उसकी तौल का अधिकार जुड़ा हुआ होता ही है, और सच्चे अधिकार तो वे ही हैं, जो अपने कर्तव्यों का योग्य पालन करके प्राप्त किये गये हों। इसलिए नागरिकता के अधिकार सिर्फ उन्हीं को मिल सकते हैं, जो जिस राज्य में वे रहते हों उसकी सेवा करते हों। और सिर्फ वे ही इन अधिकारों के साथ पूरा न्याय कर सकते हैं। हरएक आदमी को झूठ बोलने और गुण्डागिरी करने का अधिकार है, किन्तु इस अधिकार का प्रयोग उस आदमी और समाज, दोनों के लिए हानिकर है। लेकिन जो व्यक्ति सत्य और अहिंसा का पालन करता है, उसे प्रतिष्ठा मिलती है और इस प्रतिष्ठा के फलस्वरूप उसे अधिकार मिल जाते हैं। और जिन लोगों को अधिकार अपने कर्तव्यों के पालन के फलस्वरूप मिलते हैं, वे उनका उपयोग समाज की सेवा के लिए ही करते हैं, अपने लिए कभी नहीं। किसी राष्ट्रीय समाज के स्वराज्य का अर्थ उस समाज के विभिन्न व्यक्तियों के स्वराज्य (अर्थात् आत्म-शासन) का योग ही है। और ऐसा स्वराज्य व्यक्तियों द्वारा नागरिकों के रूप में अपने कर्तव्य के पालन से ही आता है। उसमें कोई अपने अधिकारों की बात नहीं सोचता। जब उनकी आवश्यकता होती है, तब वे उन्हें अपने-आप मिल जाते हैं और इसलिए मिलते हैं कि वे अपने कर्तव्य का सम्पादन ज्यादा अच्छी तरह कर सकें।

...अहिंसा पर आधारित स्वराज्य में कोई किसी का शत्रु नहीं होता, सारी जनता की भलाई का सामान्य उद्देश्य सिद्ध करने में हरएक अपना अभीष्ट योग देता है, सब लिख-पढ़ सकते हैं, और उनका ज्ञान

दिन-दिन बढ़ता रहता है। बीमारी और रोग कम-से-कम हो जायँ, ऐसी व्यवस्था की जाती है। कोई कंगाल नहीं होता और मजदूरी करना चाहने वाले को काम अवश्य मिल जाता है। ऐसी शासन-व्यवस्था में जुआ, शराबखोरी और दुराचार को या वर्ग-विद्वेष को कोई स्थान नहीं होता। अमीर लोग अपने धन का उपयोग बुद्धिपूर्वक उपयोगी कार्यों में करते हैं। अपनी शान-शौकत बढ़ाने में या शारीरिक सुखों की वृद्धि में उसका अपव्यय नहीं करते। उसमें ऐसा नहीं हो सकता, होना नहीं चाहिए, कि चन्द अमीर तो रत्न-जटित महलों में रहें और लाखों-करोड़ों ऐसी मनहूस झोंपड़ियों में, जिनमें हवा और प्रकाश का प्रवेश न हो। अहिंसक स्वराज्य में न्यायपूर्ण अधिकारों का किसी के भी द्वारा कोई अतिक्रमण नहीं हो सकता और इसी तरह किसी को कोई अन्यायपूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। सुसंगठित राज्य में किसी के न्याय अधिकार का किसी दूसरे द्वारा अन्यायपूर्वक छीना जाना असम्भव होना चाहिए और कभी ऐसा हो जाय, तो अपहर्ता को अपदस्थ करने के लिए हिंसा का आश्रय लेने की जरूरत नहीं होनी चाहिए।[११]

लोकतंत्र और हिंसा का मेल नहीं बैठ सकता। जो राज्य आज नाममात्र के लिए लोकतंत्रात्मक हैं, उन्हें या तो स्पष्ट रूप से तानाशाही का हामी हो जाना चाहिए, या अगर उन्हें सचमुच लोकतंत्रात्मक बनना है तो उन्हें साहस के साथ अहिंसक बन जाना चाहिए। यह कहना बिलकुल अविचारपूर्ण है कि अहिंसा का पालन केवल व्यक्ति ही कर सकते हैं, और राष्ट्र—जो व्यक्तियों से ही बनते हैं—हरगिज नहीं।[१२]

प्रजातंत्र का अर्थ मैंने यह समझा है कि इस तंत्र में नीचे-से-नीचे और ऊँचे-से-ऊँचे आदमी को आगे बढ़ने का समान अवसर मिलना चाहिए। लेकिन सिवा अहिंसा के ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। संसार में आज कोई भी देश ऐसा नहीं है, जहाँ कमजोरों के हक की रक्षा बतौर फर्ज के होती हो। अगर गरीबों के लिए कुछ किया भी जाता है, तो वह मेहरबानी के तौर पर किया जाता है।

पश्चिम का आज का प्रजातंत्र जरा हल्के रंग का नाजी और फासिस्ट तंत्र ही है। ज्यादा-से-ज्यादा यह कहा जा सकता है कि यह प्रजातंत्र साम्राज्यवाद की नाजी और फासिस्ट चाल को ढँकने के लिए एक आडम्बर है।...हिन्दुस्तान सच्चा प्रजातंत्र गढ़ने का प्रयत्न कर रहा है, अर्थात् ऐसा प्रजातंत्र, जिसमें हिंसा के लिए कोई स्थान न होगा।[१३]

सच्चा स्वराज्य : सरकारी नियंत्रण से मुक्ति

जब राजसत्ता जनता के हाथ में आ जाती है, तब प्रजा की आजादी में होनेवाले हस्तक्षेप की मात्रा कम-से-कम हो जाती है। दूसरे शब्दों में, जो राष्ट्र अपना काम राज्य के हस्तक्षेप के बिना ही शान्तिपूर्वक और प्रभावपूर्ण ढंग से कर दिखाता है, उसे ही सच्चे अर्थों में लोकतंत्रात्मक कहा जा सकता है। जहाँ ऐसी स्थिति न हो, वहाँ सरकार का बाहरी रूप लोकतंत्रात्मक भले हो, परन्तु वह नाम के ही लोकतंत्रात्मक है।[१४]...सच्ची लोकशाही केन्द्र में बैठे हुए (दस-बीस) आदमी नहीं चला सकते। वह तो नीचे से हरएक गाँव के लोगों द्वारा चलायी जानी चाहिए।[१५]

स्वराज्य का अर्थ है सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने के लिए लगातार प्रयत्न करना, फिर वह नियंत्रण विदेशी सरकार का हो या स्वदेशी सरकार का। यदि स्वराज्य हो जाने पर लोग अपने जीवन की हर छोटी बात के नियमन के लिए सरकार का मुँह ताकना शुरू कर दें, तो वह स्वराज्य-सरकार किसी काम की नहीं होगी।[१६]

३. शहर और गाँव

मेरी दृढ़ मान्यता है कि अगर भारत को सच्ची आजादी प्राप्त करना है और भारत के जरिए संसार को भी, तो आगे या पीछे हमें यह समझना होगा कि लोगों को गाँवों में ही रहना है, शहरों में नहीं; झोंपड़ियों में रहना है, महलों में नहीं। करोड़ों लोग शहरों या महलों में

कभी एक-दूसरे के साथ शान्तिपूर्वक नहीं रह सकते। उस परिस्थिति में उनके पास सिवा इसके कोई चारा नहीं होगा कि वे हिंसा और असत्य, दोनों का सहारा लें।

और मेरी मान्यता है कि सत्य और अहिंसा के बिना मनुष्य-जाति का विनाश हो जायेगा। सत्य और अहिंसा को हम ग्रामीण जीवन की सादगी में ही प्राप्त कर सकते हैं।...अगर दुनिया आज गलत रास्ते पर जा रही है तो मुझे उसकी चिन्ता नहीं होनी चाहिए। हो सकता है कि भारत भी उसी रास्ते जाय और जिस तरह पतंगा दीपक के चारों ओर नाचकर अन्त में उसी में जल मरता है, उसी प्रकार वह भी नष्ट हो जाय। लेकिन भारत को और भारत के जरिए सारी दुनिया को भी विनाश से बचाने का आखिरी साँस तक प्रयत्न करना मेरा परम कर्तव्य है।

मेरे कहने का सार यह है कि मनुष्य को अपनी जरूरी आवश्यकताओं की पूर्ति में सन्तोष मानना चाहिए और स्वावलम्बी होना चाहिए। अगर वह इतना संयम नहीं रखेगा तो वह अपने-आपको बचा नहीं सकेगा।...मैं आधुनिक विज्ञान का प्रशंसक हूँ, लेकिन मैं देखता हूँ कि उसके प्रकाश में पुरानी चीज का ही फिर से संशोधन और नवीनीकरण करना होगा।[१]

आजादी का प्रारम्भ

आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए। हरएक गाँव में लोगों की हुकूमत या पंचायत का राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी। इसका मतलब यह है कि हरएक गाँव को अपने पाँव पर खड़ा होना होगा—अपनी जरूरतें खुद पूरी कर लेनी होंगी, ताकि वह अपना सारा कारोबार खुद चला सके। यहाँ तक कि वह सारी दुनिया के खिलाफ अपनी रक्षा खुद कर सके। उसे तालीम देकर इस हद तक तैयार करना होगा कि वह बाहरी हमले के मुकाबले में अपनी रक्षा करते हुए मर-मिटने के लायक बन जाय। इस तरह आखिर हमारी बुनियाद व्यक्ति पर होगी। इसका यह मतलब नहीं कि पड़ोसियों पर या

दुनिया पर भरोसा न रखा जाय, या उनकी राजी-खुशी से दी हुई मदद न ली जाय। कल्पना यह है कि सब लोग आजाद होंगे और सब एक-दूसरे पर अपना असर डाल सकेंगे। जिस समाज का हरएक आदमी यह जानता है कि उसे क्या 'करना' चाहिए और इससे भी बढ़कर जिसमें यह माना जाता है कि बराबरी की मेहनत करके भी दूसरों को जो चीज नहीं मिलती है वह खुद भी किसी को नहीं लेनी चाहिए, वह समाज जरूर ही बहुत ऊँचे दरजे की सभ्यतावाला होना चाहिए।

वैसे समाज की रचना सत्य और अहिंसा पर ही हो सकती है। (और) मेरी राय है कि जब तक ईश्वर पर जीता-जागता विश्वास न हो, तब तक सत्य और अहिंसा पर चलना असम्भव है। ईश्वर या खुदा वह जिन्दा ताकत है, जिसमें दुनिया की तमाम ताकतें समा जाती हैं। वह क़िसी का सहारा नहीं लेती और दुनिया की दूसरी सब ताकतों के खतम हो जाने पर भी कायम रहती है...

जीवन की रचना कैसी होगी?

ऐसा समाज अनगिनत गाँवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढंग पर नहीं, बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक की शक्ल में होगा। जिन्दगी मीनार की शक्ल में नहीं होगी, जहाँ ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा होना पड़ता है। वहाँ तो समुद्र की लहरों की तरह जिन्दगी एक के बाद एक घेरे की शक्ल में होगी और व्यक्ति उसका मध्यबिन्दु होगा। वह व्यक्ति हमेशा अपने गाँव के खातिर मिटने को तैयार रहेगा। गाँव अपने इर्द-गिर्द के गाँवों के लिए मिटने को तैयार होगा। इस तरह आखिर सारा समाज ऐसे लोगों का बन जायेगा, जो उद्धत बनकर कभी किसी पर हमला नहीं करते, बल्कि हमेशा नम्र रहते हैं और अपने में समुद्र की उस शान को महसूस करते हैं, जिसके वे एक जरूरी अंग हैं।

इसलिए सबसे बाहर का घेरा या दायरा अपनी ताकत का उपयोग भीतरवालों को कुचलने में नहीं करेगा, बल्कि उन सबको ताकत देगा और उनसे ताकत पायेगा। मुझे ताना दिया जा सकता है कि यह सब तो खयाली तसवीर है, इसके बारे में सोचकर वक्त क्यों बिगाड़ा जाय? युक्लिड की परिभाषावाला बिन्दु कोई मनुष्य खींच नहीं सकता, फिर भी उसकी कीमत हमेशा रही है और रहेगी। इसी तरह मेरी इस तसवीर की भी कीमत है। इसके लिए मनुष्य जिन्दा रह सकता है। अगरचे इस तसवीर को पूरी तरह बनाना या पाना सम्भव नहीं है तो भी इस सही तसवीर को पाना या इस तक पहुँचना हिन्दुस्तान की जिन्दगी का मकसद होना चाहिए। जिस चीज को हम चाहते हैं, उसकी सही-सही तसवीर हमारे सामने होनी चाहिए, तभी हम उससे मिलती-जुलती कोई चीज पाने की आशा रख सकते हैं। अगर हिन्दुस्तान के हरएक गाँव में कभी पंचायती राज* कायम हुआ, तो मैं अपनी इस तसवीर की सचाई साबित कर सकूँगा, जिसमें सबसे पहला और सबसे आखिरी, दोनों बराबर होंगे या यों कहिए कि न कोई पहला होगा, न कोई आखिरी।

इस तसवीर में हरएक धर्म की अपनी पूरी और बराबरी की जगह होगी। हम सब एक ही आलीशान पेड़ के पत्ते हैं। इस पेड़ की जड़ हिलायी नहीं जा सकती, क्योंकि वह पाताल तक पहुँची हुई है। जबरदस्त से जबरदस्त आँधी भी उसे हिला नहीं सकती।

इस तसवीर में उन मशीनों के लिए कोई जगह नहीं होगी, जो मनुष्य की मेहनत की जगह लेकर कुछ लोगों के हाथों में सारी ताकत इकट्ठी कर देती है। सभ्य लोगों की दुनिया में मेहनत की अपनी अनोखी जगह है। उसमें ऐसी मशीनों की गुंजाइश होगी, जो हर आदमी को उसके काम में मदद पहुँचाये।[२]

---

* यहाँ पंचायती राज से आज के प्रचलित 'पंचायती राज' का भ्रम नहीं होना चाहिए। बापू ने जिस अर्थ में पंचायती राज शब्द का प्रयोग किया है, वह स्वयं इस लेख से जाहिर है। —सं.

जब पंचायत राज स्थापित हो जायेगा, तब लोकमत ऐसे भी अनेक काम कर दिखायेगा, जो हिंसा कभी नहीं कर सकती। जमींदारों, पूँजीपतियों और राजाओं की मौजूदा सत्ता तभी तक चल सकती है, जब तक कि सामान्य जनता को अपनी शक्ति का भान नहीं होता। अगर लोग जमींदारी और पूँजीवाद की बुराई से सहयोग करना बन्द कर दें, तो वह पोषण के अभाव में खुद ही मर जायेगी। पंचायत राज में केवल पंचायत की आज्ञा मानी जायेगी और पंचायत अपने बनाये हुए कानून द्वारा ही अपना कार्य करेगी।[3]

भारत गाँवों में बसा है

मेरा विश्वास है और मैंने इस बात को असंख्य बार दुहराया है कि भारत अपने चन्द शहरों में नहीं, बल्कि सात लाख गाँवों में बसा हुआ है। लेकिन हम शहरवासियों का खयाल है कि भारत शहरों में ही है और गाँवों का निर्माण शहरों की जरूरतें पूरी करने के लिए ही हुआ है। हमने कभी यह सोचने की तकलीफ ही नहीं उठायी कि उन गरीबों को पेट भरने जितना अन्न और शरीर ढँकने जितना कपड़ा मिलता है या नहीं और धूप तथा वर्षा से बचने के लिए उनके सिर पर छप्पर है या नहीं।

...मैंने पाया है कि शहरवासियों ने आमतौर पर ग्रामवासियों का शोषण किया है, सच तो यह है कि वे गरीब ग्रामवासियों की ही मेहनत पर जीते हैं।...जहाँ तक मैं जानता हूँ (कोई भी) यह नहीं कहता कि भारतीय ग्रामवासियों को भरपेट अन्न मिलता है। उलटे, (सबने) यह स्वीकार किया है कि अधिकांश आबादी लगभग भुखमरी की हालत में रहती है; दस प्रतिशत अधभूखी रहती है और लाखों लोग चुटकी भर नमक और मिर्ची के साथ मशीनों का पालिश किया हुआ निःसत्व चावल या रूखा-सूखा अनाज खाकर अपना गुजारा चलाते हैं।[4]

हमारी आबादी का पचहत्तर प्रतिशत से ज्यादा हिस्सा कृषि-जीवी है। लेकिन यदि हम उनसे उनकी मेहनत का सारा फल खुद छीन लें या

दूसरों को छीन लेने दें, तो यह नहीं कहा जा सकता कि हममें स्वराज्य की भावना काफी मात्रा में है।[५]

शहर अपनी हिफाजत आप कर सकते हैं। हमें तो अपना ध्यान गाँवों की ओर लगाना चाहिए। हमें उन्हें उनकी संकुचित दृष्टि, उनके पूर्वाग्रहों और वहमों आदि से मुक्त करना है और इसे करने का सिवा इसके और कोई तरीका नहीं है कि हम उनके साथ उनके बीच में रहें, उनके सुख-दुख में हिस्सा लें और उनमें शिक्षा का तथा उपयोगी ज्ञान का प्रचार करें।[६]

शहरों का कर्तव्य

गाँवों और शहरों के बीच स्वास्थ्यपूर्ण और नीतियुक्त सम्बन्ध निर्माण तब होगा, जब कि शहरों को अपने इस कर्तव्य का ज्ञान होगा कि उन्हें गाँवों का स्वार्थ के लिए शोषण करने के बजाय, गाँवों से जो शक्ति और पोषण वे प्राप्त करते हैं, उसका पर्याप्त बदला देना चाहिए।[७]

शहर के लोगों को शायद ही इस बात का पता होगा कि भारत के आधा पेट रहनेवाले करोड़ों लोग किस तरह दिन-पर-दिन मृतप्राय होते जा रहे हैं। उन्हें इस बात का पता तक नहीं कि उनके वे क्षुद्र ऐश-आराम और कुछ नहीं...पूँजीपतियों का घर भरने का जो परिश्रम वे करते हैं, उसकी निरी दलाली-मात्र हैं; और वह सारा मुनाफा तथा उनकी दलाली, दोनों भारत की गरीब प्रजा को निचोड़कर निकाली गयी चीज है।...किसी भी तरह के वितण्डावाद से अथवा अंकों और ब्योरों से तथा किसी भी तरह के मायावी कोष्ठकों से उस सबूत को उड़ाया नहीं जा सकता, जो भारत के देहात आज अपने चलते-फिरते नर-कंकालों को हमारी आँखों के सामने पेश करके दे रहे हैं।[८]

शहरवासियों का शिक्षण

ग्राम-सुधार आन्दोलन में केवल ग्रामवासियों के ही शिक्षण की बात नहीं है, शहरवासियों को भी उससे इतना ही शिक्षण लेना है। इस

काम को उठाने के लिए शहरों से जो कार्यकर्ता आयें, उन्हें (अपने में) ग्राम-मानस का विकास करना है और ग्रामवासियों की तरह रहने की कला सीखनी है। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें ग्रामवासियों की तरह भूखे मरना है, लेकिन इसका यह अर्थ जरूर है कि जीवन की उनकी पुरानी पद्धति में आमूल परिवर्तन होना चाहिए।[९]

इसका एक ही उपाय है : हम जाकर उनके बीच में बैठ जायँ और उनके आश्रयदाताओं की तरह नहीं, बल्कि उनके सेवकों की तरह दृढ़ निष्ठा से उनकी सेवा करें; हम उनके भंगी बन जायँ और उनके स्वास्थ्य की रक्षा करनेवाले परिचारक बन जायँ। हमें अपने सारे पूर्वाग्रह भुला देने चाहिए। एक क्षण के लिए हम स्वराज्य को भी भूल जायँ और अमीरों की बात तो भूल ही जायँ, यद्यपि उनका होना हमें हर कदम पर खटकता है। वे तो अपनी जगह हैं ही। और कई लोग हैं, जो इन बड़े सवालों को सुलझाने में लगे हुए हैं। हमें तो गाँवों के सुधार के इस छोटे काम में लग जाना चाहिए जो आज जरूरी है और तब भी जरूरी होगा, जब हम अपना उद्देश्य (स्वराज्य) प्राप्त कर चुकेंगे। सच तो यह है कि ग्राम-कार्य की यह सफलता स्वयं हमें अपने उद्देश्य (स्वराज्य) के निकट ले जायेगी।[१०]

गाँवों की त्रिविध बीमारी

हमें गाँवों को अपने चंगुल में जकड़ रखनेवाली जिस त्रिविध बीमारी का इलाज करना है, वह इस प्रकार है :

१. सार्वजनिक स्वच्छता की कमी,

२. पर्याप्त और पोषक आहार की कमी,

३. ग्रामवासियों की जड़ता।...

ग्रामवासी जनता अपनी उन्नति की ओर से उदासीन है। स्वच्छता के आधुनिक उपायों को न तो वे समझते हैं और न उनकी कद्र करते हैं। अपने खेतों को जोतने-बोने या जिस किस्म का परिश्रम वे करते आये

हैं, वैसा परिश्रम करने के सिवा अधिक कोई श्रम करने के लिए वे राजी नहीं हैं। ये कठिनाइयाँ वास्तविक और गम्भीर हैं। लेकिन उनसे हमें घबड़ाने या हतोत्साह होने की जरूरत नहीं है। हमें अपने ध्येय और कार्य में अमिट श्रद्धा होनी चाहिए। हमारे व्यवहार में धीरज होना चाहिए। ग्राम-कार्य में हम खुद नौसिखिये ही तो हैं। हमें एक पुरानी और जटिल बीमारी का इलाज करना है। धीरज और सतत परिश्रम से, यदि हममें वे गुण हों तो, कठिनाइयों के पहाड़ तक जीते जा सकते हैं। हम उन परिचारिकाओं की स्थिति में हैं जो उन्हें सौंपे हुए बीमारों को सिर्फ इसलिए छोड़कर जाने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं कि उन बीमारों की बीमारी असाध्य है।[११]

क्या भारत के गाँव हमेशा वैसे ही थे जैसे कि वे आज हैं? इस प्रश्न की छानबीन करने से कोई लाभ नहीं होगा। अगर वे कभी भी इससे अच्छे नहीं थे तो इससे हमारी पुरानी सभ्यता का, जिस पर हम इतना अभिमान करते हैं, एक बड़ा दोष प्रकट होता है। लेकिन यदि वे कभी अच्छे नहीं थे, तो सदियों से चली आ रही नाश की क्रिया को, जो हम अपने आसपास आज भी देख रहे हैं, वे कैसे सह सके?...हरएक देश-प्रेमी के सामने आज जो काम है वह यह है कि इस नाश की क्रिया को कैसे रोका जाय या दूसरे शब्दों में भारत के गाँवों का पुनर्निर्माण कैसे किया जाय, ताकि किसी के लिए भी उनमें रहना उतना ही आसान हो जाय जितना आसान वह शहरों में माना जाता है। सचमुच हरएक देशभक्त के सामने आज यही काम है।[१२]

स्वराज्य में गाँवों की प्रधानता

भारत की जरूरत यह नहीं है कि चन्द लोगों के हाथों में बहुत सारी पूँजी इकट्ठी हो जाय। बल्कि पूँजी का ऐसा वितरण होना चाहिए कि वह इस १९०० मील लम्बे और १५०० मील चौड़े विशाल देश को बनानेवाले साढ़े सात लाख गाँवों को आसानी से उपलब्ध हो सके।[१३]

इन ग्राम-बस्तियों का पुनरुत्थान होना चाहिए। भारतीय गाँव भारतीय शहरों की सारी जरूरतें पैदा करते थे और उन्हें देते थे। भारत की गरीबी तब शुरू हुई जब हमारे शहर विदेशी माल के बाजार बन गये और विदेशों का सस्ता और भद्दा माल गाँवों में भरकर उन्हें चूसने लगे।[१४]

किसानों का—वे भूमिहीन मजदूर हों या मेहनत करनेवाले जमीन-मालिक हों—स्थान पहला है। उनके परिश्रम से ही पृथ्वी फलप्रसू और समृद्ध हुई है और इसलिए सच कहा जाय तो जमीन उनकी ही है या होनी चाहिए, जमीन से दूर रहनेवाले जमींदारों की नहीं। लेकिन अहिंसक पद्धति में मजदूर-किसान इन जमींदारों से उनकी जमीन बलपूर्वक नहीं छीन सकता। उसे इस तरह काम करना चाहिए कि जमींदार के लिए उसका शोषण करना असम्भव हो जाय। इसके लिए किसानों में आपस में घनिष्ठ सहकार होना नितान्त आवश्यक है।[१५]

मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोकतांत्रिक स्वराज्य में किसानों के पास राजनीतिक सत्ता के साथ हर किस्म की सत्ता होनी चाहिए।...किसानों को उनकी योग्य स्थिति मिलनी ही चाहिए और देश में उनकी आवाज ही सबसे ऊपर होनी चाहिए।[१६]...अगर हम यह चाहते हैं और मानते हैं कि गाँवों को न केवल जीवित रहना चाहिए, बल्कि उन्हें बलवान् और समृद्ध बनना चाहिए, तो हमारे दृष्टिकोण में गाँव की ही प्रधानता होनी चाहिए।[१७]

४. ग्रामस्वराज्य

सच तो यह है कि हमें गाँवोंवाला भारत और शहरोंवाला भारत, इन दो में से एक को चुन लेना है। गाँव उतने ही पुराने हैं, जितना कि यह भारत पुराना है। शहरों को विदेशी आधिपत्य ने बनाया है। जब यह आधिपत्य मिट जायेगा, तब शहरों को गाँवों के मातहत होकर रहना

पड़ेगा। आज तो शहरों का बोलबाला है और वे गाँवों की सारी दौलत खींच लेते हैं। इससे गाँवों का ह्रास और नाश हो रहा है। गाँवों का शोषण खुद एक संगठित हिंसा है। अगर हमें स्वराज्य की रचना अहिंसा के पाये पर करनी है तो गाँवों को उनका उचित स्थान देना होगा।[१]...मैं कहूँगा कि अगर गाँवों का नाश होता है, तो भारत का भी नाश हो जायेगा। उस हालत में भारत भारत नहीं रहेगा। दुनिया को उसे जो सन्देश देना है, उस सन्देश को वह खो देगा।[२]

ग्रामस्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि यह एक ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं करेगा, और फिर भी बहुतेरी दूसरी जरूरतों के लिए—जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा—वह परस्पर सहयोग से काम लेगा। इस तरह हरएक गाँव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरत का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर ले। (इसके अलावा) उसके पास इतनी सुरक्षित जमीन होनी चाहिए, जिसमें ढोर चर सकें और गाँव के बड़ों व बच्चों के लिए मनबहलाव के साधन और खेल-कूद के मैदान वगैरह का बन्दोबस्त हो सके। इसके बाद भी जमीन बची तो उसमें वह ऐसी उपयोगी फसलें बोयेगा, जिन्हें बेचकर वह आर्थिक लाभ उठा सके, (लेकिन) वह गाँजा, तम्बाकू, अफीम वगैरह की खेती से बचेगा।

हरएक गाँव में गाँव की अपनी एक नाटकशाला, पाठशाला और सभा-भवन रहेगा। पानी के लिए उसका अपना इन्तजाम होगा—वाटर वर्क्स होंगे—जिससे गाँव के सभी लोगों को शुद्ध पानी मिला करेगा। कुओं और तालाबों पर गाँव का पूरा नियंत्रण रखकर यह काम किया जा सकता है। बुनियादी तालीम के आखिरी दरजे तक शिक्षा सबके लिए लाजिमी होगी। जहाँ तक हो सकेगा, गाँव के सारे काम सहयोग के आधार पर किये जायेंगे। जात-पाँत और क्रमागत अस्पृश्यता जैसे भेद

आज हमारे समाज में पाये जाते हैं, वैसे इस ग्राम-समाज में बिलकुल नहीं रहेंगे।

ग्राम-शासन की रूपरेखा

...सत्याग्रह और असहयोग के शस्त्र के साथ अहिंसा की सत्ता ही ग्रामीण समाज का शासन-बल होगी। गाँव की रक्षा के लिए ग्राम-सैनिकों का एक ऐसा दल रहेगा, जिसे लाजिमी तौर पर बारी-बारी से गाँव के चौकी-पहरे का काम करना होगा। इसके लिए गाँव में ऐसे लोगों का रजिस्टर रखा जायेगा। गाँव का शासन चलाने के लिए हर गाँव के पाँच आदमियों की एक पंचायत चुनी जायेगी। इसके लिए नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यतावाले गाँव के बालिग स्त्री-पुरुषों को अधिकार होगा कि वे अपने पंच चुन लें। इन पंचायतों को सब प्रकार की आवश्यक सत्ता और अधिकार रहेंगे। चूँकि इस ग्रामस्वराज्य में आज के प्रचलित अर्थों में सजा या दण्ड का कोई रिवाज नहीं रहेगा, इसलिए यह पंचायत अपने एक साल के कार्यकाल में स्वयं ही धारासभा, न्यायसभा और कार्यकारिणीसभा का सारा काम संयुक्त रूप से करेगी।

आज भी अगर कोई गाँव चाहे तो अपने यहाँ इस तरह का प्रजातंत्र कायम कर सकता है। उसके इस काम में मौजूदा सरकार भी ज्यादा दस्तंदाजी नहीं करेगी। क्योंकि उसका गाँव से जो भी कारगर सम्बन्ध है, वह सिर्फ मालगुजारी वसूल करने तक ही सीमित है। यहाँ मैंने इस बात का विचार नहीं किया है कि इस तरह के गाँव का अपने पास-पड़ोस के गाँवों के साथ या केन्द्रीय सरकार के साथ, अगर वैसी कोई सरकार हुई, क्या सम्बन्ध रहेगा। मेरा हेतु तो ग्राम-शासन की एक रूपरेखा पेश करने का ही है। इस ग्राम-शासन में व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आधार रखनेवाला सम्पूर्ण प्रजातंत्र काम करेगा। व्यक्ति ही अपनी इस सरकार का निर्माता भी होगा। उसकी सरकार और वह दोनों

अहिंसा के नियम के वश होकर चलेंगे। अपने गाँव के साथ वह सारी दुनिया की शक्ति का मुकाबला कर सकेगा। क्योंकि हरएक देहाती के जीवन का सबसे बड़ा नियम यह होगा कि वह अपनी और अपने गाँव की इज्जत की रक्षा के लिए मर मिटे।

सम्भव है, ऐसे गाँव को तैयार करने में एक आदमी की पूरी जिन्दगी खतम हो जाय। सच्चे प्रजातंत्र और ग्राम-जीवन का कोई भी प्रेमी एक गाँव को लेकर बैठ सकता है और उसी को अपनी सारी दुनिया मानकर उसके काम में मशगूल रह सकता है। निश्चय ही उसे इसका अच्छा फल मिलेगा। वह गाँव में बैठते ही एक साथ गाँव के भंगी, कतवैये, चौकीदार, वैद्य और शिक्षक का काम शुरू कर देगा। अगर गाँव का कोई आदमी उसके पास न फटके, तो भी वह सन्तोष के साथ अपने सफाई और कताई के काम में जुटा रहेगा।[३]

गाँवों का पुर्निर्माण

मेरी कल्पना की ग्राम-इकाई मजबूत-से-मजबूत होगी। मेरी कल्पना के गाँव में १००० आदमी रहेंगे। ऐसे गाँव को अगर स्वावलम्बन के आधार पर अच्छी तरह संगठित किया जाय, तो वह बहुत-कुछ कर सकता है।[४]

आदर्श भारतीय ग्राम इस तरह बसाया जायेगा कि उसमें आसानी से स्वच्छता की पूरी-पूरी व्यवस्था रहे। उसकी झोंपड़ियों में पर्याप्त प्रकाश और हवा का प्रबन्ध होगा और उनके निर्माण में जिस सामान का उपयोग होगा वह ऐसा होगा, जो गाँव के आसपास पाँच मील की त्रिज्या के अन्दर आनेवाले प्रदेश में मिल सके। इन झोंपड़ियों में आँगन या खाली जगह होगी, जहाँ उस घर के लोग अपने उपयोग के लिए साग-भाजियाँ उगा सकें और अपने मवेशियों को रख सकें। गाँव की गलियाँ और सड़कें जिस धूल को हटाया जा सकता है उससे मुक्त होंगी। उस गाँव में उसकी आवश्यकता के अनुसार कुएँ होंगे और वे

सबके लिए खुले होंगे। उसमें सब लोगों के लिए पूजा के स्थान होंगे, सबके लिए एक सभा-भवन होगा, मवेशियों के चरने के लिए गाँव का चरागाह होगा, सहकारी डेरी होगी, प्राथमिक और माध्यमिक शालाएँ होंगी जिनमें मुख्यतः औद्योगिक शिक्षा दी जायेगी और झगड़ों के निपटारे के लिए ग्राम-पंचायत होगी। वह अपना अनाज, साग-भाजियाँ और फल तथा खादी खुद पैदा कर लेगा।[५]

देहातवालों में ऐसी कला और कारीगरी का विकास होना चाहिए, जिससे बाहर उनकी पैदा की हुई चीज़ों की कीमत की जा सके। जब गाँवों का पूरा-पूरा विकास हो जायेगा, तो देहातियों की बुद्धि और आत्मा को सन्तुष्ट करनेवाली कला-कारीगरी के धनी स्त्री-पुरुषों की गाँवों में कमी नहीं रहेगी। गाँव में कवि होंगे, चित्रकार होंगे, शिल्पी होंगे, भाषा के पण्डित और शोध करनेवाले लोग भी होंगे। थोड़े में, जिन्दगी की ऐसी कोई चीज न होगी जो गाँव में न मिले। आज हमारे देहात उजड़े हुए और कूड़े-कचरे के ढेर बने हुए हैं। कल वहीं सुन्दर बगीचे होंगे, और ग्रामवासियों को ठगना या उनका शोषण करना असम्भव हो जायेगा। इस तरह के गाँवों की पुनर्रचना का काम आज से ही शुरू हो जाना चाहिए, और गाँवों की पुनर्रचना का (यह) काम कामचलाऊ नहीं, बल्कि स्थायी होना चाहिए।[६]

गाँवों की अर्थ-रचना

(अभी) शहरों द्वारा ग्रामीणों का शोषण और उनकी सम्पत्ति का हरण हो रहा है...मेरी योजना के अन्तर्गत, ऐसी कोई चीज शहरों द्वारा नहीं बनाने दी जायेगी, जो उतनी ही अच्छी तरह गाँवों में बनायी जा सकती हो। शहरों का सही उपयोग यह है कि ये गाँवों में बनी हुई चीजों के निकास के केन्द्र हों।...गाँवों को निश्चित रूप से स्वावलम्बी बनना चाहिए। अगर हमें अहिंसा की दृष्टि से काम करना हो, तो इसके सिवा मैं उसका कोई हल नहीं देखता।[७]

गाँवों में फिर से जान तभी आ सकती है, जब वहाँ की लूट-खसोट रुक जाय। बड़े पैमाने पर माल की पैदावार जरूर ही व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा तथा माल निकालने की धुन के साथ-साथ गाँवों की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से होनेवाली लूट के लिए जिम्मेवार है। इसलिए हमें इस बात की सबसे ज्यादा कोशिश करनी चाहिए कि गाँव हर बात में स्वावलम्बी और स्वयंपूर्ण हो जायँ। वे अपनी जरूरतें पूरी करने भर के लिए चीजें तैयार करें। ग्रामोद्योग के इस अंग की अगर अच्छी तरह रक्षा की जाय, तो फिर भले ही देहाती लोग आजकल के उन यंत्रों और औजारों से भी काम ले सकते हैं, जिन्हें वे बना और खरीद सकते हैं। शर्त सिर्फ यही है कि दूसरों को लूटने के लिए उनका उपयोग नहीं होना चाहिए।[८]

ग्रामोद्योग की योजना के पीछे मेरी कल्पना तो यह है कि हमें अपनी रोजमर्रा की आवश्यकताएँ गाँवों की बनी चीजों से ही पूरी करनी चाहिए और जहाँ यह मालूम हो कि अमुक चीजें गाँवों में मिलती ही नहीं, वहाँ हमें यह देखना चाहिए कि उन चीजों को थोड़े परिश्रम और संगठन से बनाकर गाँववाले उनसे कुछ मुनाफा उठा सकते हैं या नहीं। मुनाफे का अन्दाज लगाने में हमें अपना (निजी) नहीं, किन्तु (पूरे) गाँव का खयाल रखना चाहिए। सम्भव है कि शुरू में हमें साधारण भाव से कुछ अधिक देना पड़े और चीज हलकी मिले। पर अगर हम उन चीजों के बनानेवालों के काम में रस लें और यह आग्रह रखें कि वे बढ़िया-से-बढ़िया चीजें तैयार करें, और सिर्फ आग्रह ही न रखें, बल्कि उन लोगों को पूरी मदद भी दें, तो यह हो नहीं सकता कि गाँवों की बनी चीजों में दिन-दिन तरक्की न होती जाय।[९]...ग्रामोद्योगों का यदि लोप हो गया, तो भारत के सात लाख गाँवों का सर्वनाश ही समझिए।

ग्रामोद्योग-सम्बन्धी मेरी प्रस्तावित योजना पर जो टीकाएँ हुई हैं, उन्हें मैंने पढ़ा है। कइयों ने तो मुझे यह सलाह दी है कि मनुष्य की

अन्वेषण-बुद्धि ने प्रकृति की जिन शक्तियों को अपने वश में कर लिया है, उनका उपयोग करने से ही गाँवों की मुक्ति होगी। उन आलोचकों का यह कहना है कि प्रगतिशील पश्चिम में जिस तरह पानी, हवा, तेल और बिजली का पूरा-पूरा उपयोग हो रहा है, उसी तरह हमें भी इन चीजों को काम में लाना चाहिए। वे कहते हैं कि इन गुप्त प्राकृतिक शक्तियों पर कब्जा कर लेने से प्रत्येक अमेरिकावासी ३३ गुलामों को रख सकता है, अर्थात् ३३ गुलामों का काम वह इन शक्तियों द्वारा ले सकता है।

इस रास्ते अगर हम हिन्दुस्तान में चलें, तो मैं यह बेधड़क कह सकता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य को ३३ गुलाम मिलने के बजाय इस मुल्क के एक-एक मनुष्य की गुलामी ३३ गुनी बढ़ जायेगी।

यंत्रों का स्थान

यंत्रों से काम लेना उसी अवस्था में अच्छा होता है, जब कि किसी निर्धारित काम को पूरा करने के लिए आदमी बहुत ही कम हों या नपे-तुले हों। पर यह बात हिन्दुस्तान में तो है नहीं। यहाँ काम के लिए जितने आदमी चाहिए, उनसे कहीं अधिक बेकार पड़े हुए हैं। इसलिए उद्योगों के यंत्रीकरण से यहाँ की बेकारी घटेगी या बढ़ेगी? कुछ वर्गगज जमीन खोदने के लिए मैं हल का (भी) उपयोग नहीं करूँगा। (उतनी जमीन हाथ से खोदी जा सकती है।) हमारे यहाँ सवाल यह नहीं है कि हमारे गाँवों में जो लाखों-करोड़ों आदमी पड़े हैं, उन्हें परिश्रम की चक्की से निकालकर किस तरह छुट्टी दिलायी जाय, बल्कि यह है कि उन्हें साल में जो कुछ महीनों का समय यों ही बैठे-बैठे आलस में (और अतः गरीबी में) बिताना पड़ता है, उसका उपयोग कैसे किया जाय।

कुछ लोगों को मेरी यह बात शायद विचित्र लगेगी, पर दरअसल बात यह है कि प्रत्येक (कपड़ा) मिल सामान्यतः आज गाँवों की जनता के लिए त्रास रूप हो रही है। उनकी रोजी पर ये मायाविनी मिलें छापा मार रही हैं। मैंने बारीकी से आँकड़े एकत्र नहीं किये, पर इतना तो कह

ही सकता हूँ कि गाँवों में बैठकर कम-से-कम दस मजदूर जितना काम करते हैं, उतना ही काम मिल का एक मजदूर करता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि दस आदमियों की रोजी छीनकर यह एक आदमी गाँव में जितना कमाता था, उससे कहीं अधिक कमा रहा है। इस तरह कताई और बुनाई की मिलों ने गाँवों के लोगों की जीविका का एक बड़ा भारी साधन छीन लिया है।

ऊपर की दलील का यह कोई जवाब नहीं है कि ये मिलें जो कपड़ा तैयार करती हैं वह अधिक अच्छा और काफी सस्ता होता है। कारण यह है कि इन मिलों ने अगर हज़ारों मजदूरों का धन्धा छीनकर उन्हें बेकार बना दिया है, तो सस्ते से सस्ता मिल का कपड़ा गाँवों की बनी हुई महँगी खादी से भी ज्यादा महँगा है। कोयले की खान में काम करनेवाले मजदूर जहाँ रहते हैं, वहीं वे कोयले का उपयोग कर सकते हैं, इसलिए उन्हें कोयला महँगा नहीं पड़ता। इसी तरह जो ग्रामवासी अपनी जरूरत भर के लिए खुद खादी बना लेता है, उसे वह महँगी नहीं पड़ती। मिलों का बना कपड़ा अगर गाँवों के लोगों को बेकार बना रहा है, तो चावल कूटने और आटा पीसने की मिलें हजारों स्त्रियों की न केवल रोजी ही छीन रही हैं, बल्कि बदले में तमाम जनता के स्वास्थ्य को हानि भी पहुँचा रही हैं। जहाँ लोगों को मांस खाने में कोई आपत्ति न हो और जहाँ मांसाहार पुसाता हो, वहाँ मैदा और पॉलिशदार चावल से शायद हानि न होती हो। लेकिन हमारे देश में, जहाँ करोड़ों आदमी ऐसे हैं जो मांस मिले तो खाने में आपत्ति नहीं करेंगे, पर जिन्हें मांस मिलता ही नहीं, उन्हें हाथ की चक्की के पिसे हुए गेहूँ के आटे और हाथ-कुटे चावल के पौष्टिक तथा जीवनप्रद तत्त्वों से वंचित रखना एक प्रकार का पाप है। इसलिए डॉक्टरों तथा दूसरे आहार-विशेषज्ञों को चाहिए कि मैदे और मिल के कुटे पॉलिशदार चावल से लोगों के स्वास्थ्य को जो हानि हो रही है, उससे वे जनता को आगाह कर दें।

मैंने सहज ही नजर में आनेवाली जो कुछ मोटी-मोटी बातों की तरफ यहाँ ध्यान खींचा है, उसका उद्देश्य यही है कि अगर ग्रामवासियों को कुछ काम देना है, तो वह यंत्रों के द्वारा सम्भव नहीं है। उनके उद्धार का सच्चा मार्ग तो यही है कि जिन उद्योग-धन्धों को वे अब तक किसी कदर करते चले आ रहे हैं, उन्हीं को भली-भाँति जीवित किया जाय।[१०]

५. उद्योगवाद का अभिशाप

दुनिया में ऐसे विवेकी पुरुषों की संख्या लगातार बढ़ रही है, जो इस सभ्यता को—जिसके एक छोर पर तो भौतिक समृद्धि की कभी तृप्त न होनेवाली आकांक्षा है और दूसरे छोर पर उसके फलस्वरूप पैदा होनेवाला युद्ध है—अविश्वास की निगाह से देखते हैं। लेकिन यह समस्या अच्छी हो या बुरी, भारत का पश्चिम जैसा उद्योगीकरण करने की क्या जरूरत है? पश्चिमी सभ्यता शहरी सभ्यता है। इंग्लैण्ड और इटली जैसे छोटे देश अपनी व्यवस्थाओं का शहरीकरण कर सकते हैं। अमेरिका बड़ा देश है, किन्तु उसकी आबादी बहुत विरल है। इसलिए उसे भी शायद वैसा ही करना पड़ेगा। लेकिन कोई भी आदमी यदि सोचेगा तो यह मानेगा कि भारत जैसे बड़े देश को, जिसकी आबादी बहुत ज्यादा बड़ी है और जिसमें ग्राम-जीवन की ऐसी पुरानी परम्पराएँ पोषित हुई हैं जो उसकी आवश्यकताओं को बराबर पूरा करती आयी हैं, पश्चिमी नमूने की नकल करने की कोई जरूरत नहीं है और न उसे ऐसी नकल करनी चाहिए। विशेष परिस्थितियोंवाले किसी एक देश के लिए जो बात अच्छी है, वह भिन्न परिस्थितियोंवाले किसी दूसरे देश के लिए भी अच्छी ही हो, यह जरूरी नहीं है। जो किसी एक आदमी के लिए पोषक आहार का काम देती हो, वही दूसरे के लिए जहर जैसी सिद्ध होती है। किसी देश की संस्कृति को निर्धारित करने में उसके

प्राकृतिक भूगोल का प्रमुख हिस्सा होता है। ध्रुव प्रदेश के निवासी के लिए ऊनी कोट जरूरी हो सकता है, लेकिन भूमध्य-रेखावर्ती प्रदेशों के निवासियों का तो उससे दम ही घुट जायेगा।[1]

सामान्य बुद्धि रखनेवाले व्यक्ति की हैसियत से मैं जानता हूँ कि मनुष्य उद्योग के बिना जिन्दा नहीं रह सकता। इसलिए मैं उद्योगीकरण के खिलाफ नहीं हो सकता। लेकिन यंत्रोद्योग के बारे में एक बड़ी चिन्ता है। यंत्र से उत्पादन बहुत तेजी से होता है और उसके साथ इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था आ जाती है जिसको मैं समझ नहीं सकता। मैं ऐसी चीज को स्वीकार नहीं कर सकता जिसके बुरे परिणामों को मैं उससे होनेवाले लाभ की अपेक्षा ज्यादा पाता हूँ। मैं चाहता हूँ, हमारे देश के करोड़ों बेजबान लोग स्वस्थ और सुखी हों और आध्यात्मिक दृष्टि से उनका विकास हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अभी तक हमें यंत्रों की आवश्यकता नहीं है। हमारे यहाँ अभी भी बहुत हाथ, बहुत ज्यादा हाथ, बेकार हैं। लेकिन जब हमारा बौद्धिक विकास हो जायेगा और हमें महसूस होगा कि हमें यंत्रों की आवश्यकता है, तब हम अवश्य उनको ग्रहण करेंगे। हमें उद्योग चाहिए; तो इसके लिए हमें उद्यमी बनना होगा। पहले हम स्वावलम्बी बनें तो हमें दूसरों के नेतृत्व की उतनी आवश्यकता नहीं रहेगी। जब और जैसे हमें आवश्यकता होगी, हम यंत्रों को दाखिल करेंगे। एक बार हम अहिंसा के आधार पर अपना जीवन गढ़ लें तब फिर यंत्रों का नियंत्रण करना हम जान जायेंगे।[2]

राष्ट्रीयकरण से दोष दूर नहीं होंगे

पण्डित नेहरू उद्योगीकरण चाहते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि उसका राष्ट्रीयकरण कर देने से वह पूँजीवाद के दोषों से मुक्त हो जायेगा। मेरी अपनी राय है कि उद्योगवाद में ये दोष निहित हैं, और कितना भी राष्ट्रीयकरण क्यों न किया जाय उन दोषों को दूर नहीं किया

जा सकता।[३]...कारखानों की सभ्यता पर हम अहिंसा का निर्माण नहीं कर सकते, स्वावलम्बी गाँवों की बुनियाद पर ही वह किया जा सकता है...ग्रामीण आर्थिक रचना की जैसी मेरी कल्पना है उसमें शोषण बिलकुल समाप्त हो जाता है, और शोषण तो हिंसा का सार है। इसलिए अगर हमें अहिंसक बनना हो तो पहले ग्रामीण वृत्तिवाला बनना होगा।[४]...अहिंसा पर आधारित समाज गाँव में बसे हुए समुदायों का ही हो सकता है जहाँ स्वैच्छिक सहयोग एक प्रतिष्ठित और शान्तिमय जीवन की अनिवार्य शर्त है।[५]

...किसी को भी भोजन और वस्त्र का अभाव नहीं होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हरएक को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त काम मिलना चाहिए ··(और यह आदर्श सबके लिए तभी प्राप्त हो सकता है जब) जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जरूरी उत्पादन के साधन जनता के नियंत्रण में हों। ये सबको मुक्त रूप से उपलब्ध होने चाहिए जैसे हवा और पानी है, दूसरों के शोषण के लिए इन्हें व्यापार का साधन नहीं बनाया जाना चाहिए।[६]

मेरा स्पष्ट मत है और मैं उसे साफ-साफ कहता हूँ कि बड़े पैमाने पर माल उत्पादन करने का पागलपन ही दुनिया की मौजूदा संकटमय स्थिति के लिए जिम्मेदार है। एक क्षण के लिए मान भी लिया जाय कि यंत्र मानव-समाज की सारी आवश्यकताएँ पूरी कर सकते हैं, तो भी उसका यह परिणाम तो होगा ही कि उत्पादन कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में केन्द्रित हो जायेगा और इसलिए वितरण की योजना के लिए हमें श्वविड़ी प्राणायाम करना पड़ेगा। दूसरी ओर यदि जिन क्षेत्रों में वस्तुओं की आवश्यकता है वहीं उनका उत्पादन हो और वहीं वितरण हो, तो वितरण का नियंत्रण अपने-आप हो जाता है। उसमें धोखाधड़ी के लिए कम गुंजाइश होती है और सट्टे के लिए तो बिलकुल नहीं।

...जब उत्पादन और उपभोग, दोनों किसी सीमित क्षेत्र में होते हैं, तो उत्पादन को अनिश्चित हदतक और किसी भी मूल्य पर बढ़ाने का

लोभ फिर नहीं रह जाता। उस हालत में हमारी मौजूदा अर्थ-व्यवस्था से जो अनेक कठिनाइयाँ और समस्याएँ पैदा होती हैं वे नहीं रह जायेंगी।[७]

बड़े पैमाने के उत्पादन में उपभोक्ता की सच्ची जरूरतों का ध्यान नहीं रखा जाता। अगर बड़े पैमाने का उत्पादन अपने-आप में एक हितकारी वस्तु हो, तो उसे अनन्तगुना बढ़ सकना चाहिए। लेकिन यह निश्चित रूप से बताया जा सकता है कि बड़े पैमाने का उत्पादन अपने साथ अपनी मर्यादाएँ लेकर चलता है। अगर दुनिया के समस्त देश बड़े पैमाने की उत्पादन-पद्धति को अपना लें, तो उनके माल के लिए बड़े बाजार नहीं मिलेंगे। उस स्थिति में बड़े पैमाने के उत्पादन को रुकना ही होगा।[८]

यह तो आप देखते ही हैं कि ये राष्ट्र (यूरोप और अमेरिका) दुनिया की तथाकथित कमजोर या असंगठित जातियों का शोषण करते हैं। यदि एक बार इन जातियों को इस चीज का प्राथमिक ज्ञान हो जाय और इस बात का निश्चय कर लें कि वे अब अपना शोषण नहीं होने देंगी, तो फिर वे जो कुछ खुद पैदा कर सकती हैं, उतने से ही सन्तोष कर लेंगी। ऐसा हो तो जहाँ तक मुख्य आवश्यकताओं का सम्बन्ध है, बड़े पैमाने का उत्पादन मिट जायेगा।[९]

यंत्रों द्वारा शोषण

वर्तमान अराजकता और अन्धाधुन्धी का कारण...आज का (यह) शोषण है।...और यंत्रों का मेरा बुनियादी विरोध इस सत्य के आधार पर खड़ा है कि यंत्र ही वह चीज है जिसने इन राष्ट्रों (यूरोप और अमेरिका) को दूसरे राष्ट्रों का शोषण करने की क्षमता दी है।[१०]

मेरा विरोध यंत्रों के सम्बन्ध में फैले हुए 'दीवानेपन' से है, यंत्रों से नहीं। परिश्रम का बचाव करनेवाले यंत्रों के सम्बन्ध में लोगों का जो दीवानापन है, उसी से मेरा विरोध है। आज परिश्रम की बचत इस हद

तक की जाती है कि हजारों लोगों को आखिर में भूखों मरना पड़ता है और उन्हें तन ढँकने तक को कपड़ा नहीं मिलता। मुझे भी समय और परिश्रम का बचाव अवश्य करना है; लेकिन वह मुट्ठीभर आदमियों के लिए नहीं, बल्कि समस्त मानव-जाति के लिए। समय और परिश्रम का बचाव करके मुट्ठीभर आदमी धनाढ्य हो बैठें, यह मेरे लिए असह्य है। आज यंत्रों के कारण मुट्ठीभर आदमी लाखों लोगों की पीठ पर सवार होकर बैठे हैं और उन्हें सता रहे हैं; क्योंकि यंत्रों को चलाने के मूल में मनुष्य का लोभ है, धन-तृष्णा है, जन-कल्याण की भावना नहीं है। यंत्रों के इस दुरुपयोग के विरुद्ध मैं अपनी पूरी शक्ति से लड़ रहा हूँ।[११]

यंत्रों का भी स्थान है और यंत्रों ने अपना स्थान प्राप्त भी कर लिया है। लेकिन मनुष्य के लिए जिस प्रकार की मेहनत करना अनिवार्य होना चाहिए, उस प्रकार की मेहनत का स्थान उन्हें (यंत्रों को) ग्रहण नहीं कर लेना चाहिए। घर में चलाने लायक यंत्रों में सुधार किये जायँ तो मैं उसका स्वागत करूँगा। लेकिन मैं यह भी समझता हूँ कि जब तक लाखों किसानों को उनके घर में कोई दूसरा धन्धा करने के लिए न दिया जाय, तब तक हाथ-मेहनत से चरखा चलाने के बदले किसी दूसरी शक्ति से कपड़े का कारखाना चलाना गुनाह है।[१२]

यंत्रों की ऊपरी विजय से चमत्कृत होने से मैं इनकार करता हूँ। और मारक यंत्रों के तो मैं एकदम खिलाफ हूँ, उसमें मैं किसी तरह का समझौता नहीं कर सकता। लेकिन ऐसे सादे औजारों, साधनों या यंत्रों का, जो व्यक्ति की मेहनत बचायें और झोंपड़ियों में रहनेवाले लाखों-करोड़ों लोगों का बोझ कम करें, मैं जरूर स्वागत करूँगा।[१३]

जीवित और जड़ यंत्रों की प्रतिद्वन्द्विता

हिन्दुस्तान के सात लाख गाँवों में फैले हुए ग्रामवासी-रूपी करोड़ों जीवित यंत्रों के विरुद्ध जड़ यंत्रों को प्रतिद्वन्द्विता में नहीं लाना चाहिए। यंत्रों का सदुपयोग तो यह कहा जायेगा कि उससे मनुष्य के प्रयत्न को

सहारा मिले और उसे वह आसान बना दे। यंत्रों के मौजूदा उपयोग का झुकाव तो इस ओर ही बढ़ता जा रहा है कि कुछ इने-गिने लोगों के हाथ में खूब सम्पत्ति पहुँचायी जाय और जिन करोड़ों स्त्री-पुरुषों के मुँह से रोटी छीन ली जाती है, उन बेचारों की जरा भी परवाह न की जाय।[१४]

बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्द्धा और बाजार की समस्याएँ खड़ी होंगी, त्यों-त्यों गाँवों का प्रकट या अप्रकट शोषण होगा। इसलिए हमें अपनी शक्ति इसी प्रयत्न पर केन्द्रित करनी चाहिए कि गाँव स्वयंपूर्ण बनें और वस्तुओं का निर्माण और उत्पादन अपने उपयोग के लिए करें। यदि उत्पादन की यह पद्धति स्वीकार कर ली जाय तो फिर गाँववाले ऐसे आधुनिक यंत्रों और औजारों का, जिन्हें वे बना सकते हों और जिनका उपयोग उन्हें आर्थिक दृष्टि से पुसा सकता हो, उपयोग खुशी से करें। उस पर आपत्ति नहीं की जा सकती। अलबत्ता, उनका उपयोग दूसरों का शोषण करने के लिए नहीं होना चाहिए।[१५]

मैं नहीं मानता कि उद्योगीकरण हर हालत में किसी भी देश के लिए जरूरी ही है। भारत के लिए तो वह उससे भी कम जरूरी है। मेरा विश्वास है कि आजाद भारत दुख से कराहती हुई दुनिया के प्रति अपने कर्तव्य का ऋण अपने गाँवों का विकास करके और दुनिया के साथ मित्रता का व्यवहार करके और इस तरह सादा परन्तु उदात्त जीवन अपनाकर ही चुका सकता है। धन की पूजा ने हमारे ऊपर भौतिक समृद्धि के जिस जटिल और शीघ्रगामी जीवन को लाद दिया है, उसके साथ 'उच्च चिन्तन' का मेल नहीं बैठता। जीवन का सम्पूर्ण सौन्दर्य तभी खिल सकता है, जब हम उच्च कोटि का जीवन जीना सीखें।[१६]

विकेन्द्रीकरण की अनिवार्यता

हमारा ध्येय लोगों को सुखी बनाना और साथ-साथ उनकी सम्पूर्ण बौद्धिक और नैतिक—यानी आध्यात्मिक-उन्नति सिद्ध करना है। वह

ध्येय विकेन्द्रीकरण से ही सध सकता है। केन्द्रीकरण की पद्धति का अहिंसक समाज-रचना के साथ मेल नहीं बैठता।[१७]

यदि भारत को अपना विकास अहिंसा की दिशा में करना है, तो उसे बहुत-सी चीजों का विकेन्द्रीकरण करना पड़ेगा। केन्द्रीकरण किया जाय तो फिर उसे कायम रखने के लिए और उसकी रक्षा के लिए हिंसा-बल अनिवार्य है। जिनमें चोरी करने या लूटने के लिए कुछ है ही नहीं, ऐसे सादे घरों की रक्षा के लिए पुलिस की जरूरत नहीं होती। लेकिन धनवानों के महलों के लिए अवश्य बलवान् पहरेदार चाहिए, जो डाकुओं से उनकी रक्षा करें। यही बात बड़े-बड़े कारखानों की है। गाँवों को मुख्य मानकर जिस भारत का निर्माण होगा, उसे शहरप्रधान भारत की अपेक्षा—शहरप्रधान भारत, जल, स्थल और वायु सेनाओं से सुसज्जित होगा तो भी—विदेशी आक्रमण का कम खतरा रहेगा![१८]

इस समय शक्ति का केन्द्र दिल्ली, कलकत्ता या बम्बई में, बड़े शहरों में है। मैं इस शक्ति को भारत के सात लाख गाँवों में बाँट देना चाहूँगा...इम्पीरियल बैंक में जो सात लाख डालर हैं* उन्हें बैंक से निकाल कर भारत के सात लाख गाँवों में बाँट दूँगा। तब हर गाँव के पास अपना डालर होगा जो खोया नहीं जा सकता। इम्पीरियल बैंक में रखे हुए सात लाख डालर जापानी हवाई जहाज के एक बम से नष्ट हो सकते हैं। लेकिन अगर वे सात लाख साझीदारों में वितरित रहें तो कोई उन्हें नष्ट नहीं कर सकेगा।[१९]

किसी अलग-थलग रहनेवाले देश के लिए, भले वह भू-विस्तार और जनसंख्या की दृष्टि से कितना भी बड़ा क्यों न हो, ऐसी दुनिया में जो शस्त्रास्त्रों से सिर से पाँव तक लदी है और जिसमें सर्वत्र वैभव-विलास का ही वातावरण नजर आता है, ऐसा सादा जीवन जीना सम्भव है या नहीं—यह ऐसा सवाल है, जिसमें संशयशील आदमी को अवश्य

* भारत-सरकार का संग्रह जो उस समय इम्पीरियल बैंक में जमा था। —सं.

सन्देह होगा। लेकिन इसका उत्तर सीधा है। यदि सारा जीवन जीने योग्य है, तो यह प्रयत्न भी करने योग्य है, चाहे वह प्रयत्न किसी एक ही व्यक्ति या किसी एक ही समुदाय द्वारा क्यों न किया जाय।

लेकिन साथ ही मैं यह भी मानता हूँ कि कुछ प्रमुख उद्योग (बड़े पैमाने के) आवश्यक हैं। न तो आरामकुर्सीवाले और न हिंसावाले समाजवाद में मेरा विश्वास है। मैं तो अपने विश्वास के अनुसार आचरण करने में मानता हूँ और उसके लिए सब लोग मेरी बात मान लें, तब तक ठहरना आवश्यक समझता हूँ। इसलिए इन प्रमुख उद्योगों को गिनाये बिना ही मैं कह देता हूँ कि जहाँ कहीं भी लोगों को काफी बड़ी संख्या में मिलकर काम करना पड़ता है, वहाँ मैं राज्य की मालिकी की हिमायत करूँगा। उनकी कुशल या अकुशल मेहनत से जो कुछ उत्पन्न होगा, उसकी मालिकी राज्य द्वारा उनकी ही होगी। लेकिन चूँकि मैं तो इस राज्य के अहिंसा पर ही आधारित होने की कल्पना कर सकता हूँ, इसलिए मैं अमीर से उनकी सम्पत्ति बलपूर्वक नहीं छीनूँगा, बल्कि उक्त उद्योगों पर राज्य की मालिकी कायम करने की प्रक्रिया में उनका सहयोग माँगूँगा। अमीर हों या कंगाल, समाज में कोई भी वर्ग अछूत या पतित नहीं है। अमीर और गरीब दोनों एक ही रोग के दो रूप हैं। और सत्य यह है कि कोई कैसा भी हो, हैं तो सब मनुष्य ही।[२०]

६. पसीने की रोटी

अपने देश में जो भयानक गरीबी और बेकारी है, उसे देखकर मुझे रोना आया है। लेकिन मुझे स्वीकार करना चाहिए कि इस स्थिति के लिए हमारी अपनी उपेक्षा और अज्ञान ही जिम्मेदार है। शरीर-श्रम करने में जो गौरव है, उसे हम नहीं जानते। उदाहरण के लिए, मोची जूते बनाने के सिवा कोई दूसरा काम नहीं करता। वह ऐसा समझता है

कि दूसरे काम उसकी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं हैं। यह गलत खयाल दूर होना चाहिए। उन सब लोगों के लिए, जो अपने हाथों और पाँवों से ईमानदारी के साथ मेहनत करना चाहते हैं, हिन्दुस्तान में काफी धन्धा है। ईश्वर ने हरएक को काम करने की और अपनी रोज की रोटी से ज्यादा कमाने की क्षमता दी है। और जो भी इस क्षमता का उपयोग करने के लिए तैयार हो, उसे काम अवश्य मिल सकता है। ईमान की कमाई करने की इच्छा रखंनेवाले को चाहिए कि वह किसी भी काम को नीचा न माने। जरूरत इस बात की है कि ईश्वर ने हमें जो हाथ-पाँव दिये हैं, हम उनका उपयोग करने के लिए तैयार रहें।[१]

महान् प्रकृति की इच्छा तो यही है कि हम अपनी रोटी पसीना बहाकर कमायें। इसलिए जो आदमी अपना एक मिनट भी बेकारी में बिताता है, वह उस हद तक अपने पड़ोसियों पर बोझ बनता है। और ऐसा करना अहिंसा के बिलकुल पहले ही नियम का उल्लंघन करना है।...अहिंसा यदि अपने पड़ोसी के हित का खयाल रखना न हो तब तो उसका कोई अर्थ ही न रहे। आलसी आदमी अहिंसा की इस प्रारम्भिक कसौटी में ही खोटा सिद्ध होता है।[२]

गीता और बाइबिल की सीख

रोटी के लिए हरएक मनुष्य को मजदूरी करना चाहिए, शरीर को (कमर को) झुकाना चाहिए, यह ईश्वर का कानून है।...इसकी झाँकी मेरी आँखें भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में करती हैं। यज्ञ किये बिना जो खाता है, वह चोरी का अन्न खाता है, ऐसा कठिन शाप यज्ञ न करने वाले को दिया गया है। यहाँ यज्ञ का अर्थ स्वयं की मेहनत या रोटी-मजदूरी (पसीने की कमाई) ही शोभता है और मेरी राय में यही मुमकिन है।

...बुद्धि भी हमें इसी चीज की ओर ले जाती है। जो मजदूरी नहीं करता, उसे खाने का क्या हक है? बाइबिल कहती है : "अपनी रोटी

तू अपना पसीना बहाकर कमा और खा।'' करोड़पति भी अगर अपने पलंग पर लोटता रहे और उसके मुँह में कोई खाना डाले तब खाये, तो वह ज्यादा देर तक खा नहीं सकेगा, इसमें उसको मजा भी नहीं आयेगा। इसलिए वह कसरत वगैरह करके भूख पैदा करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुँह हिलाकर। अगर यों किसी-न-किसी रूप में अंगों की कसरत राय-रंक सबको करनी ही पड़ती है, तो रोटी पैदा करने की कसरत ही सब क्यों न करें? यह सवाल कुदरती तौर पर उठता है। किसान को हवाखोरी या कसरत करने के लिए कोई कहता नहीं है और दुनिया के ९० फीसदी से भी ज्यादा लोगों का निर्वाह खेती पर होता है। बाकी के १० फीसदी लोग अगर इनकी नकल करें तो जगत् में कितना सुख, कितनी शान्ति और कितनी तन्दुरुस्ती फैल जाय? और अगर खेती के साथ बुद्धि का मेल हो तो खेती से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी मुसीबत आसानी से दूर हो जायेंगी। फिर, अगर इस शरीर-श्रम के निरपवाद कानून को सब मानें तो ऊँच-नीच का भेद (भी) मिट जाय।

आज तो जहाँ ऊँच-नीच की गंध भी नहीं थी वहाँ यानी वर्ण-व्यवस्था में भी वह घुस गयी है। मालिक-मजदूर का भेद आम और स्थायी हो गया है और गरीब धनवान् से जलता है। अगर सब रोटी के लिए मजदूरी करें, तो ऊँच-नीच का भेद न रहे, और फिर भी धनिक-वर्ग रहेगा तो वह खुद को मालिक नहीं, बल्कि उस धन का रखवाला या ट्रस्टी मानेगा और उसका ज्यादातर उपयोग सिर्फ लोगों की सेवा के लिए ही करेगा।

जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की भक्ति करनी है, ब्रह्मचर्य को कुदरती बनाना है, उसके लिए तो जात-मेहनत (शरीर-श्रम) रामबाण-सी हो जाती है। यह मेहनत तो सचमुच खेती में ही है। लेकिन सब खेती नहीं कर सकते, आज ऐसी तो हालत है ही। इसलिए खेती के आदर्श को खयाल में रखकर खेती के एवज में आदमी भले दूसरी मजदूरी करे—जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लोहारी, वगैरा-

वगैरा। सबको खुद के भंगी तो बनना ही चाहिए। जो खाता है वह टट्टी तो फिरेगा ही। जो टट्टी फिरता है वही अपनी टट्टी जमीन में गाड़ दे, यह उत्तम रिवाज है। अगर यह नहीं ही हो सके तो प्रत्येक कुटुम्ब अपना यह फर्ज अदा करे।

भंगी का अलग पेशा एक बड़ा दोष है

जिस समाज में भंगी का अलग पेशा माना गया है, वहाँ कोई बड़ा दोष पैठ गया है, ऐसा मुझे तो वर्षों से लगता रहा है। इस जरूरी और तन्दुरुस्ती बढ़ानेवाले (आरोग्य-पोषक) काम को सबसे नीचा काम पहले-पहल किसने माना, इसका इतिहास हमारे पास नहीं है। जिसने माना उसने हम पर उपकार तो नहीं ही किया। हम सब भंगी हैं, यह भावना हमारे मन में बचपन से ही जम जानी चाहिए, और उसका सबसे आसान तरीका यह है कि जो समझ गये हैं वे शरीर-श्रम का आरम्भ पाखाना-सफाई से करें। जो समझ-बूझकर, ज्ञानपूर्वक यह करेगा, वह उसी क्षण से धर्म को निराले ढंग से और सही तरीके से समझने लगेगा।[३]

यदि सब लोग अपने ही परिश्रम की कमाई खायें, तो दुनिया में अन्न की कमी न रहे और सबको अवकाश का काफी समय भी मिले। न तब किसी को जनसंख्या की वृद्धि की शिकायत रहे, न कोई बीमारी आये, और न मनुष्य को कोई कष्ट या क्लेश ही सताये। वह श्रम उच्च-से-उच्च प्रकार का यज्ञ होगा। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य अपने शरीर या बुद्धि द्वारा और भी अनेक काम करेंगे, पर उनका वह सब श्रम लोक-कल्याण के लिए प्रेम का श्रम होगा। उस अवस्था में न कोई राजा होगा, न कोई रंक, न कोई ऊँच होगा, न कोई नीच, न कोई स्पृश्य रहेगा, न कोई अस्पृश्य।

भले ही वह एक अलभ्य आदर्श हो, पर इस कारण हमें अपना प्रयत्न बन्द कर देने की जरूरत नहीं। यज्ञ के सम्पूर्ण नियम को अर्थात् 'अपने जीवन के नियम' को पूरा किये बिना भी अगर हम अपने नित्य

के निर्वाह के लिए पर्याप्त शारीरिक श्रम करेंगे, तो उस आदर्श के बहुत कुछ निकट तो हम पहुँच ही जायेंगे।

यदि हम ऐसा करेंगे तो हमारी आवश्यकताएँ बहुत कम हो जायेंगी। और हमारा भोजन भी सादा बन जायेगा। तब हम जीने के लिए खायेंगे, न कि खाने के लिए जीयेंगे। इस बात की यथार्थता में जिसे शंका हो, वह अपने परिश्रम की कमाई खाने का प्रयत्न करे। अपने पसीने की कमाई खाने में उसे कुछ और ही स्वाद मिलेगा, उसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहेगा, और उसे यह मालूम हो जायेगा कि जो बहुत-सी विलास की चीजें उसने अपने ऊपर लाद रखी थीं, वे सब बिलकुल ही फ़िजूल थीं।[४]

बुद्धिपूर्वक किया हुआ शरीर-श्रम समाज-सेवा का सर्वोत्कृष्ट रूप है। यहाँ शरीर-श्रम शब्द के साथ 'बुद्धिपूर्वक किया हुआ' विशेषण यह दिखाने के लिए जोड़ा गया है कि किये हुए शरीर-श्रम के पीछे समाज सेवा का निश्चित उद्देश्य हो तभी इसे समाज-सेवा का दरजा मिल सकता है। ऐसा न हो, तब तो कहा जायेगा कि हरएक मजदूर समाज-सेवा करता ही है। वैसे, एक अर्थ में यह कथन सही भी है, लेकिन यहाँ उससे कुछ ज्यादा अभीष्ट है। जो आदमी सब लोगों के सामान्य कल्याण के लिए परिश्रम करता है वह जरूर समाज की ही सेवा करता है और उसकी आवश्यकताएँ पूरी होनी ही चाहिए। इसलिए ऐसा शरीर-श्रम समाज-सेवा से भिन्न नहीं है।[५]...(पर) पसीने की कमाई के इस प्राकृतिक नियम का मजबूरी में किया हुआ पालन गरीबी, रोग और असन्तोष को जन्म देता है। वह तो एक प्रकार की गुलामी है। इसके स्वेच्छापूर्वक पालन से ही सन्तोष और स्वास्थ्य मिल सकता है।[६]

बौद्धिक श्रम से आजीविका

क्या मनुष्य अपने बौद्धिक श्रम से अपनी आजीविका नहीं कमा सकते? नहीं। शरीर की आवश्यकताएँ शरीर द्वारा ही पूरी होनी चाहिए।

केवल मानसिक और बौद्धिक श्रम आत्मा के लिए और स्वयं अपने ही सन्तोष के लिए है। उसका पुरस्कार कभी नहीं माँगा जाना चाहिए। आदर्श राज्य में डॉक्टर, वकील और ऐसे ही दूसरे लोग केवल समाज के लाभ के काम करेंगे, अपने लिए नहीं। शारीरिक श्रम के धर्म का पालन करने से समाज की रचना में एक शान्त क्रान्ति हो जायेगी। मनुष्य की विजय इसमें होगी कि उसने जीवन-संग्राम के बजाय परस्पर सेवा की होड़ की स्थापना कर दी। तब पशुधर्म के स्थान पर मानव-धर्म कायम हो जायेगा।

वह कुदिन ही होगा जिस दिन से इस अभागे देश में परिश्रम को लोग घृणा की दृष्टि से देखने लगे होंगे और इस प्रकार उसकी उपेक्षा करने लगे होंगे। लाखों-करोड़ों मनुष्य, जो दुनिया के हीरे थे और जिनके उद्योग पर यह देश जी रहा था, नीचे समझे जाने लगे और ऊपर से बड़े दिखनेवाले थोड़े-से अहदी आदमियों का वर्ग प्रतिष्ठित समझा जाने लगा। इसका दुखद परिणाम यह हुआ कि भारत को नैतिक और आर्थिक दोनों ही प्रकार की भारी क्षति पहुँची। यह हिसाब लगाना असम्भव नहीं तो कठिन जरूर है कि इन दोनों में कौन-सी हानि बड़ी थी। किन्तु किसानों और कारीगरों के प्रति बतायी गयी इस अपराधपूर्ण लापरवाही ने हमें दरिद्रता, मूढ़ और काहिल बनाकर ही छोड़ा।

भारत के पास कौन-से साधन नहीं हैं? उसका सुन्दर जलवायु, उसके गगनचुम्बी पर्वत, उसकी विशाल नदियाँ और उसका विस्तृत समुद्र—ये सब ऐसे असीम साधन हैं कि अगर इन सबका पूरा-पूरा उपयोग किया जाय, तो इस स्वर्ण देश में दारिद्र्य और रोग आये ही क्यों? पर जब से हमने शारीरिक श्रम से बुद्धि का सम्बन्ध छुड़ाया, तब से हमारी कौम का सब तरह से पतन हो गया, दुनिया में आज हम सबसे अल्पजीवी, निपट साधनहीन और अत्यन्त पराजित प्रजा माने जाते हैं।

७. परिग्रह सभ्यता का लक्षण नहीं, चोरी है

एक हद तक शारीरिक सुविधा और आराम का होना जरूरी है, लेकिन उस हद से आगे बढ़ने पर ये सुविधाएँ और आराम सहायक बनने के बजाय हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक बन जाते हैं। इसलिए बेहद जरूरतें बढ़ाने और उन्हें पूरा करने का आदर्श निरा भ्रम और जाल ही है। मनुष्य की शारीरिक जरूरतें पूरी करने का, यहाँ तक कि उसकी संकुचित बौद्धिक जरूरतें पूरी करने का भी, अमुक हद के बाद अन्त आना चाहिए, क्योंकि इस मर्यादा को लाँघने पर वह प्रयत्न शारीरिक और बौद्धिक विलास का रूप ले लेता है। मनुष्य को अपने शारीरिक सुखों और सांस्कृतिक सुविधाओं की ऐसे ढंग से व्यवस्था करनी चाहिए कि वे उसकी मानव-सेवा में बाधक न बनें। मनुष्य की सारी शक्तियों का उपयोग मानव-सेवा में होनी चाहिए।

सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि सोच-समझकर और अपनी इच्छा से उसे कम करना है। ज्यों-ज्यों हम परिग्रह घटाते जाते हैं त्यों-त्यों सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता जाता है, सेवा की शक्ति बढ़ती जाती है। अभ्यास से, आदत डालने से आदमी अपनी जरूरतें घटा सकता है, और ज्यों-ज्यों उन्हें घटाया जाता है त्यों-त्यों वह सुखी, शान्त और सब तरह से तन्दुरुस्त होता जाता है।[२]

सुनहला नियम तो...यह है कि जो चीज लाखों को नहीं मिल सकती उसे लेने से हम भी दृढ़तापूर्वक इनकार कर दें। त्याग की यह शक्ति हमें कहीं से एकाएक नहीं मिल जायेगी। पहले तो हमें ऐसी मनोवृत्ति पैदा करनी चाहिए कि हमें उन सुख-सुविधाओं का उपयोग नहीं करना है जिनसे लाखों लोग वंचित हैं। और उसके बाद तुरन्त ही, अपनी इस मनोवृत्ति के अनुसार हमें शीघ्रतापूर्वक अपना जीवन बदलने में लग जाना चाहिए।[३]

अपरिग्रह का अस्तेय (चोरी न करने) के साथ चोली-दामन का सम्बन्ध है। कोई चीज वास्तव में चुरायी नहीं गयी हो तो भी अगर हम आवश्यकता के बिना उसका संग्रह करते हैं, तो वह चोरी का माल समझा जाना चाहिए। परिग्रह का अर्थ है भविष्य के लिए संग्रह करना। ...रोज की जरूरत जितना ही रोज पैदा करने का ईश्वर का नियम हम नहीं जानते या जानते हुए भी उसे पालते नहीं, इसलिए जगत् में असमानता और उसमें से पैदा होनेवाले तमाम दुख हम भुगतते हैं। अमीर के यहाँ उसको न चाहिए वैसी चीजें भरी पड़ी होती हैं, वे लापरवाही से खो जाती हैं, बिगड़ जाती हैं, जब कि इन्हीं चीजों की कमी के कारण करोड़ों लोग भटकते हैं, भूखों मरते हैं, ठण्ड से ठिठुर जाते हैं। सब अगर अपनी जरूरत की चीजों का ही संग्रह करें, तो किसी को तंगी महसूस न हो और सबको सन्तोष हो। आज तो दोनों तंगी महसूस करते हैं। करोड़पति अरबपति होना चाहता है, फिर भी उसको सन्तोष नहीं होता। कंगाल करोड़पति होना चाहता है। कंगाल को भरपेट ही मिलने से सन्तोष होता हो, ऐसा नहीं देखा जाता। फिर भी उसे भरपेट पाने का हक है, और उसे उतना पानेवाला बनाना समाज का फर्ज है। इसलिए उस गरीब के और अपने सन्तोष के खातिर अमीर को पहल करनी चाहिए। अगर वह अपना बहुत ज्यादा परिग्रह छोड़ें तो कंगाल को अपनी जरूरत का आसानी से मिल जाय और दोनों पक्ष संतोष का संबक सीखें।

परिग्रह चोरी है

मैं कहना चाहता हूँ कि हम सब एक तरह से चोर हैं। अगर मैं कोई ऐसी चीज लेता और रखता हूँ, जिसकी मुझे अपने किसी तात्कालिक उपयोग के लिए जरूरत नहीं है, तो मैं उसकी दूसरे से चोरी ही करता हूँ। यह प्रकृति का एक निरपवाद बुनियादी नियम है कि वह रोज केवल उतना ही पैदा करती है जितना हमें चाहिए। और यदि हरएक आदमी

जितना उसे चाहिए उतना ही ले, ज्यादा न ले, तो दुनिया में गरीबी न रहे और कोई आदमी भूखा न मरे। मैं समाजवादी नहीं हूँ और जिनके पास सम्पत्ति का संचय है, उनसे मैं उसे छीनना नहीं चाहता। लेकिन मैं यह जरूर कहता हूँ कि हममें से जो लोग प्रकाश की खोज में प्रयत्नशील हैं, उन्हें व्यक्तिगत तौर पर इस नियम का पालन करना चाहिए। मैं किसी से उसकी सम्पत्ति छीनना नहीं चाहता, क्यों कि वैसा करूँ तो मैं अहिंसा के नियम से च्युत हो जाऊँगा। यदि किसी के पास मेरी अपेक्षा ज्यादा सम्पत्ति है तो भले रहे। लेकिन यदि मुझे अपना जीवन नियम के अनुसार गढ़ना है। तो मैं ऐसी कोई चीज अपने पास नहीं रख सकता, जिसकी मुझे जरूरत नहीं है। भारत में लाखों लोग ऐसे हैं, जिन्हें दिन में केवल एक ही बार खाकर सन्तोष कर लेना पड़ता है और उनके उस भोजन में भी सूखी रोटी और चुटकी भर नमक के सिवा और कुछ नहीं होता। हमारे पास जो कुछ भी है, उस पर हमें और आपको तब तक कोई अधिकार नहीं है, जब तक इन लोगों के पास पहनने के लिए कपड़ा और खाने के लिए अन्न नहीं हो जाता। हममें और आपमें ज्यादा समझ होने की आशा की जाती है। अतः हमें अपनी जरूरतों का नियमन करना चाहिए और स्वेच्छापूर्वक अमुक अभाव भी सहना चाहिए, जिससे कि उन गरीबों का पालन-पोषण हो सके, उन्हें कपड़ा और अन्न मिल सके।

चंचल मन सुख-दुख का कारण है

मनुष्य की वृत्तियाँ चंचल हैं। उसका मन बेकार की दौड़-धूप किया करता है। उसका शरीर जैसे-जैसे ज्यादा देते जायँ, वैसे-वैसे ज्यादा माँगता जाता है। ज्यादा लेकर भी वह सुखी नहीं होता। भोग भोगने से भोग की इच्छा बढ़ती जाती है। इसलिए हमारे पुरखों ने भोग की हद बाँध दी। बहुत सोचकर उन्होंने देखा कि सुख-दुख तो मन के कारण हैं। अमीर अपनी अमीरी की वजह से सुखी नहीं है, गरीब अपनी

गरीबी के कारण दुखी नहीं है। अमीर दुखी देखने में आता है और गरीब सुखी देखने में आता है। करोड़ों लोग तो गरीब ही रहेंगे। ऐसा देखकर पूर्वजों ने भोग की वासना छुड़वायी। हजारों साल पहले जो हल काम में लिया जाता था, उससे हमने काम चलाया। हजारों साल पहले जैसे झोंपड़े थे उन्हें हमने कायम रखा। हजारों साल पहले जैसी हमारी शिक्षा थी वही चलती आयी। हमने नाशकारक होड़ को जगह नहीं दी। सब अपना-अपना धन्धा करते रहे। उसमें उन्होंने दस्तूर के मुताबिक दाम लिये। ऐसा नहीं था कि हमें यंत्र वगैरा की खोज करना ही नहीं आता था। लेकिन हमारे पूर्वजों ने देखा कि लोग अगर यंत्र वगैरा की झंझट में पड़ेंगे, तो गुलाम ही बनेंगे और अपनी नीति को छोड़ देंगे। उन्होंने सोच-समझकर कहा कि हमें हाथ-पैरों से जो काम हो सके वही करना चाहिए। हाथ-पैरों का इस्तेमाल करने में ही सच्चा सुख है, उसी में तन्दुरुस्ती है।

उन्होंने सोचा कि बड़े शहर कायम करना बेकार की झंझट है। उनमें लोग सुखी नहीं होंगे। उनमें धूर्तों की टोलियाँ और वेश्याओं की गलियाँ पैदा होंगी, गरीब अमीरों से लूटे जायेंगे। इसलिए उन्होंने छोटे गाँवों से ही सन्तोष माना।

उन्होंने देखा कि राजाओं और उनकी तलवार के बनिस्बत नीति का बल ज्यादा बलवान् है। इसलिए उन्होंने राजाओं को नीतिवान् पुरुषों-ऋषियों और फकीरों—से कम दरजे का माना।[६]

८. सर्व-कल्याणकारी जीवन-पद्धति

मेरी राय में भारत की—न सिर्फ भारत की बल्कि सारी दुनिया की—अर्थ-रचना ऐसी होनी चाहिए कि किसी को भी अन्न और वस्त्र के अभाव की तकलीफ न सहनी पड़े। दूसरे शब्दों में, हरएक को इतना काम अवश्य मिल जाना चाहिए कि वह अपने खाने-पहनने की जरुरतें

पूरी कर सके। और यह आदर्श निरपवाद रूप से तभी कार्यान्वित किया जा सकता है, जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जनता के नियंत्रण में रहें। वे हरएक को बिना किसी बाधा के उसी तरह उपलब्ध होने चाहिए जिस तरह कि भगवान् की दी हुई हवा और पानी हमें उपलब्ध है, किसी भी हालत में वे दूसरों के शोषण के लिए चलाये जानेवाले व्यापार का वाहन न बनें। किसी भी देश, राष्ट्र या समुदाय का उन पर अधिकार अन्यायपूर्ण होगा। हम आज न केवल अपने इस दुखी देश में, बल्कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में भी, जो गरीबी देखते हैं, उसका कारण इस सरल सिद्धान्त की उपेक्षा ही है।[१]

मैं अर्थविद्या और नीतिविद्या में कोई भेद नहीं करता। जिस अर्थविद्या से व्यक्ति या राष्ट्र के नैतिक कल्याण को हानि पहुँचती हो, उसे मैं अनीतिमय और पापपूर्ण कहूँगा। उदाहरण के लिए, जो अर्थविद्या किसी दूसरे देश का शोषण करने की अनुमति देती है, वह अनैतिक है। जो मजदूरों को योग्य मेहनताना नहीं देते और उनके परिश्रम का शोषण करते हैं, उनसे वस्तुएँ खरीदना या उन वस्तुओं का उपयोग करना पापपूर्ण है।[२]

झूठा अर्थशास्त्र

जिस तरह सच्चे नीतिधर्म में और अच्छे अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं होता, उसी तरह सच्चा अर्थशास्त्र कभी भी नीतिधर्म के ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श का विरोधी नहीं होता। जो अर्थशास्त्र धन की पूजा करना सिखाता है और बलवानों को दुर्बलों का शोषण करके धन का संग्रह करने की सुविधा देता है, उसे शास्त्र का नाम नहीं दिया जा सकता। वह तो एक झूठी चीज है जिससे हमें कोई लाभ नहीं हो सकता। उसे अपना कर हम मृत्यु को न्योता देंगे। सच्चा अर्थशास्त्र तो सामाजिक न्याय की हिमायत करता है, वह समान भाव से सबकी भलाई का—जिनमें कमजोर भी शामिल हैं—प्रयत्न करता है और वह सभ्यजनोचित सुन्दर जीवन के लिए अनिवार्य है।[३]

मैं ऐसी स्थिति लाना चाहता हूँ, जिसमें सबका सामाजिक दरजा समान माना जाय। मजदूरी करनेवाले वर्गों को सैकड़ों वर्षों से सभ्य समाज से अलग रखा गया है और उन्हें नीचा दरजा दिया गया है। उन्हें शूद्र कहा गया है और इस शब्द का यह अर्थ किया गया कि वे दूसरे वर्गों से नीचे हैं। मैं बुनकर, किसान और शिक्षक के लड़कों में कोई भेद नहीं होने दे सकता।[४]

आर्थिक समानता

रचनात्मक काम का यह अंग अहिंसापूर्ण स्वराज्य की मुख्य चाबी है। आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है, पूँजी और मजदूरी के बीच के झगड़ों को हमेशा के लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर से जिन मुट्ठी भर पैसेवाले लोगों के हाथ में राष्ट्र की संपत्ति का बड़ा भाग इकट्ठा हो गया है, उनकी सम्पत्ति को कम करना और दूसरी ओर से जो करोड़ों लोग आधेपेट खाते और नंगे रहते हैं, उनकी सम्पत्ति में वृद्धि करना। जब तक मुट्ठीभर धनवानों और करोड़ों भूखे रहनेवालों के बीच बेइन्तहा अन्तर बना रहेगा, तब तक अहिंसा की बुनियाद पर चलनेवाली राज-व्यवस्था कायम नहीं हो सकती। आजाद हिन्दुस्तान में देश के बड़े-से-बड़े धनवानों के हाथ में हुकूमत का जितना हिस्सा रहेगा, उतना ही गरीबों के हाथ में भी होगा, और तब नयी दिल्ली के महलों और उनकी बगल में बसी हुई गरीब मजदूर बस्तियों के टूटे-फूटे झोंपड़ों के बीच जो दर्दनाक फर्क आज नजर आता है, वह एक दिन को भी नहीं टिकेगा। अगर धनवान् लोग अपने धन को और उसके कारण मिलनेवाली सत्ता को खुद राजी-खुशी से छोड़कर और सबके कल्याण के लिए सबके साथ मिलकर बरतने को तैयार न होंगे, तो यह तय समझिए कि हमारे देश में हिंसक और खूँख्वार क्रान्ति हुए बिना नहीं रहेगी।

आर्थिक समानता का मतलब है जगत् (में सब) के पास समान सम्पत्ति का होना, यानी सबके पास इतनी सम्पत्ति का होना कि जिससे वे अपनी कुदरती आवश्यकताएँ पूरी कर सकें। कुदरत ने ही एक आदमी का हाजमा अगर नाजुक बनाया हो और वह केवल पाँच ही तोला अन्न खा सके, और दूसरे को बीस तोला अन्न खाने की आवश्यकता हो, तो दोनों को अपनी पाचनशक्ति के अनुसार अन्न मिलना चाहिए। सारे समाज की रचना इस आदर्श के आधार पर होनी चाहिए। अहिंसक समाज का दूसरा आदर्श नहीं रखना चाहिए। पूर्ण आदर्श तक हम कभी नहीं पहुँच सकते। मगर उसे नजर में रखकर हम व्यवस्था करें। जिस हद तक हम इस आदर्श को पहुँच सकेंगे, उसी हद तक सुख और सन्तोष प्राप्त करेंगे। और उसी हद तक सामाजिक अहिंसा सिद्ध हुई कही जा सकेगी।

इस आर्थिक समानता के धर्म का पालन एक अकेला मनुष्य भी कर सकता है। दूसरों के साथ की उसे आवश्यकता नहीं रहती।...यह कहने की जरूरत इसीलिए है कि किसी भी धर्म के पालन में जहाँ तक दूसरे उसका पालन करें वहाँ तक हमें रुके रहने की आवश्यकता नहीं। और फिर ध्येय की आखिरी हद तक न पहुँच सकें वहाँ तक कुछ भी त्याग न करने की वृत्ति बहुधा लोगों में देखने में आती है। यह भी हमारी गति को रोकती है।

आर्थिक समानता कैसे लायी जाय?

अहिंसा द्वारा (यह) आर्थिक समानता कैसे लायी जा सकती है? इसका विचार करें। पहला कदम यह है कि जिसने इस आदर्श को अपनाया हो, वह अपने जीवन में आवश्यक परिवर्तन करे। हिन्दुस्तान की गरीब प्रजा के साथ अपनी तुलना करके अपनी आवश्यकताएँ कम करे अपनी धन कमाने की शक्ति को नियंत्रण में रखे। जो धन कमाये उसे ईमानदारी से कमाने का निश्चय करे। सट्टे की वृत्ति हो तो उसका

त्याग करे। घर भी अपनी सामान्य आवश्यकता पूरी करने लायक ही रखे और जीवन को हर तरह से संयमी बनाये। अपने जीवन में सम्भव सुधार कर लेने के बाद अपने मिलने-जुलनेवाले और अपने पड़ोसियों में समानता के आदर्श का प्रचार करे।

आर्थिक समानता की जड़ में धनिक का ट्रस्टीपन निहित है। इस आदर्श के अनुसार धनिक को अपने पड़ोसी से एक कौड़ी भी ज्यादा रखने का अधिकार नहीं है। तब उसके पास जो ज्यादा है, क्या वह उससे छीन लिया जाय? ऐसा करने के लिए हिंसा का आश्रय लेना पड़ेगा। और हिंसा द्वारा ऐसा करना सम्भव हो, तो भी समाज को उससे कुछ फायदा होनेवाला नहीं है। क्योंकि द्रव्य इकट्ठा करने की शक्ति रखनेवाले एक आदमी की शक्ति को समाज खो बैठेगा। इसलिए अहिंसक मार्ग यह हुआ कि जितनी मान्य हो सके उतनी अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के बाद जो पैसा बाकी बचे, उसका वह प्रजा की ओर से ट्रस्टी बन जाय। अगर वह प्रामाणिकता से संरक्षक बनेगा, तो जो पैसा पैदा करेगा उसका सद्व्यय भी करेगा। जब मनुष्य अपने-आपको समाज का सेवक मानेगा, समाज के खातिर धन कमायेगा, समाज के कल्याण के लिए उसे खर्च करेगा, तब उसकी कमाई में शुद्धता आयेगी। उसके साहस में भी अहिंसा होगी। इस प्रकार की कार्य-प्रणाली का आयोजन किया जाय तो समाज में बगैर संघर्ष के मूक क्रान्ति पैदा हो सकती है।

इस प्रकार मनुष्य-स्वभाव में परिवर्तन होने का उल्लेख इतिहास में कहीं देखा गया है? ऐसा प्रश्न हो सकता है। व्यक्तियों में तो ऐसा हुआ ही है। बड़े पैमाने पर समाज में परिवर्तन हुआ है, यह शायद सिद्ध न किया जा सके। इसका अर्थ इतना ही है कि व्यापक अहिंसा का प्रयोग आज तक नहीं किया गया। हम लोगों के हृदय में इस झूठी मान्यता ने घर कर लिया है कि अहिंसा व्यक्तिगत रूप से ही विकसित की जा

सकती है और वह व्यक्ति तक ही मर्यादित है। दरअसल बात ऐसी है नहीं। अहिंसा सामाजिक धर्म है, सामाजिक धर्म के तौर पर वह विकसित किया जा सकता है, वह मनवाने का मेरा प्रयत्न और प्रयोग है। यह नयी चीज है, इसलिए इसे झूठ समझकर फेंक देने की बात इस युग में तो कोई नहीं कहेगा। यह कठिन है, इसलिए अशक्य है, यह भी इस युग में कोई नहीं कहेगा। क्योंकि बहुत-सी चीजें अपनी आँखों के सामने नयी-पुरानी होती हमने देखी हैं। मेरी यह मान्यता है कि अहिंसा के क्षेत्र में इससे बहुत ज्यादा साहस शक्य है, और विविध धर्मों के इतिहास इस बात के प्रमाणों से भरे पड़े हैं।...

किन्तु महाप्रयत्न करने पर भी धनिक संरक्षक न बनें, और भूखों मरते हुए करोड़ों को अहिंसा के नाम से अधिक कुचलते जायँ तब क्या करें? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने में ही अहिंसक कानून-भंग (सिविल डिस-ओबीडियेन्स) प्राप्त हुआ। कोई धनवान् गरीबों के सहयोग के बिना धन नहीं कमा सकता। मनुष्य को अपनी हिंसक शक्ति का भान है, क्योंकि वह उसे लाखों वर्षों से विरासत में मिली हुई है। जब उसे चार पैर की जगह दो पैर और दो हाथवाले प्राणी का आकार मिला, तब उसमें अहिंसक शक्ति भी आयी। अहिंसा-शक्ति का भान भी धीरे-धीरे, किन्तु अचूक रीति से रोज-रोज बढ़ने लगा। वह भान गरीबों में प्रसार पा जाय, तो वे बलवान् बनें और आर्थिक असमानता को, जिसके कि वे शिकार बने हुए हैं, अहिंसक तरीके से दूर करना सीख लें।[६]

ट्रस्टीशिप—जीवन की नियामक शक्ति

आप कह सकते हैं कि ट्रस्टीशिप तो कानूनशास्त्र की एक कल्पना मात्र है, व्यवहार में उसका कहीं कोई अस्तित्व दिखायी नहीं पड़ता। लेकिन यदि लोग उस पर सतत विचार करें और उसे आचरण में उतारने की कोशिश भी करते रहें, तो मनुष्य-जाति के जीवन की नियामक शक्ति के रूप में प्रेम आज जितना प्रभावशाली दिखायी देता

है, उससे कहीं अधिक दिखायी पड़ेगा। बेशक, पूर्ण ट्रस्टीशिप तो युक्लिड की बिन्दु की व्याख्या की तरह एक कल्पना ही है और उतनी ही अप्राप्य भी है। लेकिन यदि उसके लिए कोशिश की जाय तो दुनिया में समानता की स्थापना की दिशा में हम दूसरे किसी उपाय से जितनी दूर तक जा सकते हैं, उसके बजाय इस उपाय से ज्यादा दूर तक जा सकेंगे।

...मेरा दृढ़ निश्चय है कि यदि राज्य ने पूँजीवाद को हिंसा द्वारा दबाने की कोशिश की तो वह खुद ही हिंसा के जाल में फँस जायेगा और फिर कभी भी अहिंसा का विकास नहीं कर सकेगा। राज्य हिंसा का एक केन्द्रित और संगठित रूप ही है। व्यक्ति में आत्मा होती है, परन्तु चूँकि राज्य एक जड़ यंत्रमात्र है, इसलिए उसे हिंसा से कभी नहीं छुड़ाया जा सकता। क्यों कि हिंसा से ही तो उसका जन्म होता है। इसलिए मैं ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को तरजीह देता हूँ। यह डर हमेशा बना रहता है कि कहीं राज्य उन लोगों के खिलाफ, जो उससे मतभेद रखते हैं, बहुत ज्यादा हिंसा का उपयोग न करे।

लोग यदि स्वेच्छा से ट्रस्टियों की तरह व्यवहार करने लगें तो मुझे सचमुच बड़ी खुशी होगी। लेकिन यदि वे ऐसा न करें तो मेरा खयाल है कि हमें राज्य द्वारा भरसक कम हिंसा का आश्रय लेकर उनसे उनकी सम्पत्ति ले लेनी पड़ेगी।...व्यक्तिगत तौर पर तों मैं यह चाहूँगा कि राज्य के हाथों में शक्ति का ज्यादा केन्द्रीकरण न हो, उसके बजाय ट्रस्टीशिप की भावना का विस्तार हो। क्योंकि मेरी राय में राज्य की हिंसा की तुलना में वैयक्तिक मालिकी की हिंसा कम हानिकर है। लेकिन यदि राज्य की मालिकी अनिवार्य ही हो तो मैं भरसक कम-से-कम राज्य की मालिकी की सिफारिश करूँगा।[६]

आजकल यह कहना एक फैशन हो गया है कि समाज को अहिंसा के आधार पर न तो संगठित किया जा सकता है और न चलाया जा सकता है। मैं इस कथन का विरोध करता हूँ। परिवार में जब पिता अपने

पुत्र को अपराध करने पर थप्पड़ मार देता है, तो पुत्र उसका बदला लेने की बात नहीं सोचता। वह अपने पिता की आज्ञा.इसलिए स्वीकार कर लेता है कि इस थप्पड़ के पीछे वह अपने पिता के प्यार को आहत हुआ देखता है, इसलिए नहीं कि थप्पड़ उसे वैसा अपराध दुबारा करने से रोकता है। मेरी राय में समाज की व्यवस्था जिस तरह होनी चाहिए, यह उसका एक छोटा रूप है। जो बात परिवार के लिए सही है, वही समाज के लिए सही है, क्योंकि समाज एक बड़ा परिवार ही है।[६]

ट्रस्टीशिप को तत्त्वज्ञान और धर्म का समर्थन

मेरी धारणा है कि अहिंसा केवल वैयक्तिक गुण नहीं है। वह एक सामाजिक गुण भी है और अन्य गुणों की तरह उसका भी विकास किया जाना चाहिए। यह तो मानना ही होगा कि समाज के पारस्परिक व्यवहारों का नियमन बहुत हद तक अहिंसा द्वारा होता है। मैं इतना ही चाहता हूँ कि इस सिद्धान्त का बड़े पैमाने पर, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर विस्तार किया जाय।[९]

मेरा ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त कोई ऐसी चीज नहीं है, जो काम निकालने के लिए आज गढ़ लिया गया हो। मेरी मंशा छिपाने के लिए खड़ा किया गया आवरण तो वह हरगिज नहीं है। मेरा विश्वास है कि दूसरे सिद्धान्त जब नहीं रहेंगे तब भी वह रहेगा। उसके पीछे तत्त्वज्ञान और धर्म के समर्थन का बल है। धन के मालिकों ने इस सिद्धान्त के अनुसार आचरण नहीं किया है, इस बात से यह सिद्ध नहीं होता कि वह सिद्धान्त झूठा है, इससे धन के मालिकों की कमजोरी मात्र सिद्ध होती है। अहिंसा के साथ किसी दूसरे सिद्धान्त का मेल ही नहीं बैठता। अहिंसक मार्ग की खूबी यह है कि अन्यायी यदि अपना अन्याय दूर नहीं करता, तो वह अपना नाश खुद ही कर डालता है। क्यों कि अहिंसक असहयोग के कारण या तो वह अपनी गलती देखने और सुधारने के लिए मजबूर हो जाता है या वह बिलकुल अकेला पड़ जाता है।[१०]

मैं इस राय के साथ निःसंकोच अपनी सम्मति जाहिर करता हूँ कि आमतौर पर धनवान्—केवल धनवान् ही क्यों, बल्कि ज्यादातर लोग—इस बात का विशेष विचार नहीं करते कि वे पैसा किस तरह कमाते हैं। अहिंसक उपाय का प्रयोग करते हुए, यह विश्वास तो होना ही चाहिए कि कोई आदमी कितना ही पतित क्यों न हो, यदि उसका इलाज कुशलतापूर्वक और सहानुभूति के साथ किया जाय तो उसे सुधारा जा सकता है। हमें मनुष्यों में रहनेवाले दैवी अंश को प्रभावित करना चाहिए और अपेक्षा करनी चाहिए कि उसका अनुकूल परिणाम निकलेगा। यदि समाज का हरएक सदस्य अपनी शक्तियों का उपयोग वैयक्तिक स्वार्थ साधने के लिए नहीं, बल्कि सबके कल्याण के लिए करे, तो क्या इससे समाज की सुख-समृद्धि में वृद्धि नहीं होगी? हम ऐसी जड़ समानता का निर्माण नहीं करना चाहते, जिसमें कोई आदमी योग्यताओं का पूरा-पूरा उपयोग कर ही न सके। ऐसा समाज अन्त में नष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। इसलिए मेरी यह सलाह बिलकुल ठीक है कि धनवान् लोग चाहे करोड़ों रुपये कमायें (बेशक, ईमानदारी से) लेकिन उनका उद्देश्य वह सारा पैसा सबके कल्याण में समर्पित कर देने का होना चाहिए। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' (इस) मंत्र में असाधारण ज्ञान भरा पड़ा है। मौजूदा जीवन-पद्धति की जगह, जिसमें हरएक आदमी पड़ोसी की परवाह किये बिना केवल अपने ही लिए जीता है, सर्व-कल्याणकारी नयी जीवन-पद्धति का विकास करना हो, तो उसका सबसे निश्चित मार्ग यही है।[११]

•

खण्ड : २

योजना

१. समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय

पूँजीपतियों द्वारा पूँजी के दुरुपयोग की बात लोगों के ध्यान में आयी, तब समाजवाद का जन्म हुआ, यह खयाल गलत है। जैसे कि मैंने पहले प्रतिपादित किया है समाजवाद, और उसी तरह साम्यवाद भी, ईशोपनिषद् के पहले श्लोक में* स्पष्टरूप से मिल जाता है। हाँ, यह बात सही है कि जब कुछ सुधारकों ने हृदय-परिवर्तन की क्रिया द्वारा आदर्श सिद्ध करने की प्रणाली में विश्वास खो दिया, तब जिसे वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है, उसकी पद्धति ढूँढ़ी गयी। मैं उसी समस्या को हल करने में लगा हुआ हूँ, जो वैज्ञानिक समाजवादियों के सामने है। अलबत्ता, काम का मेरा ढंग शुद्ध अहिंसा के अनुसार प्रयत्न करने का है।[१]

सच्चा समाजवाद तो हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ है, जो हमें यह सिखा गये हैं कि "सब भूमि गोपाल की है, इसमें कहीं मेरी और तेरी की सीमाएँ नहीं हैं। ये सीमाएँ तो आदमियों ने बनायी हैं और इसलिए ये इन्हें तोड़ भी सकते हैं।" गोपाल यानी भगवान् । आधुनिक भाषा में गोपाल यानी राज्य, यानी जनता। आज जमीन जनता की नहीं है यह बात सही है। पर इसमें दोष उस सिखावन का नहीं है। दोष तो हमारा है जिन्होंने उस शिक्षा के अनुसार आचरण नहीं किया। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस आदर्श को जिस हद तक रूस या और कोई देश पहुँच सकता है, उसी हद तक हम भी पहुँच सकते हैं और वह भी

---

* 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'

हिंसा का आश्रय लिये बिना। पूँजीवालों से उनकी पूँजी हिंसापूर्वक छीनी जाय, इसके बजाय यदि चरखा और सारे फलितार्थ स्वीकार कर लिये जायँ, तो वही काम हो सकता है। चरखा हिंसक अपहरण की जगह ले सकनेवाला अत्यन्त प्रभावकारी साधन है। (वह इस बात का प्रतीक है कि) जमीन और दूसरी सारी सम्पत्ति उसकी है जो उसके लिए काम करे। दुख इस बात का है कि किसान और मजदूर या तो इस सरल सत्य को जानते नहीं या यों कहो कि उन्हें इसे जानने नहीं दिया गया है।[२]

अहिंसक प्रतिकार का साधन– असहयोग

मैं सदा से यह मानता आया हूँ कि नीचे-से-नीचे और कमजोर-से-कमजोर के प्रति हम जोर-जबरदस्ती से सामाजिक न्याय का पालन नहीं कर सकते। मैं यह भी मानता आया हूँ कि पतित-से-पतित लोगों को भी मुनासिब तालीम दी जाय, तो अहिंसक साधनों द्वारा सब प्रकार के अत्याचारों का प्रतिकार किया जा सकता है। अहिंसक असहयोग ही उसका मुख्य साधन है। कभी-कभी असहयोग भी उतना ही कर्तव्यरूप हो जाता है जितना कि सहयोग। अपनी विफलता या गुलामी में खुद सहायक होने के लिए कोई बँधा हुआ नहीं है। जो स्वतंत्रता दूसरों के प्रयत्नों द्वारा—फिर वे कितने ही उदार क्यों न हों—मिलती है, वह उन प्रयत्नों के न रहने पर कायम नहीं रखी जा सकती। दूसरे शब्दों में, ऐसी स्वतंत्रता सच्ची स्वतंत्रता नहीं है। लेकिन जब पतित-से-पतित भी अहिंसक असहयोग द्वारा अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने की कला सीख लेते हैं, तो वे उसके प्रकाश का अनुभव किये बिना नहीं रह सकते।

मेरा यह पक्का विश्वास है कि जिस चीज को हिंसा कभी नहीं कर सकती, वही अहिंसात्मक असहयोग द्वारा सिद्ध की जा सकती है। और उससे अन्त में जाकर अत्याचारियों का हृदय-परिवर्तन भी हो सकता है। हमने हिन्दुस्तान में अहिंसा को उसके अनुरूप मौका अभी तक दिया ही

नहीं। फिर भी आश्चर्य है कि अपनी इस मिलावटी अहिंसा द्वारा भी हम इतनी शक्ति प्राप्त कर सके हैं।[३]

समाजवाद और साम्यवाद आदि पश्चिम के सिद्धान्त जिन विचारों पर आधारित हैं, वे हमारे तत्सम्बन्धी विचार से बुनियादी तौर पर भिन्न हैं।...उनका यह विश्वास है कि मनुष्य-स्वभाव में मूलगामी स्वार्थ-भावना है। मैं इस विचार को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मनुष्य और पशु में यह बुनियादी फर्क है कि मनुष्य अपनी अन्तर्हित आत्मा की पुकार का उत्तर दे सकता है, उन विकारों के ऊपर उठ सकता है जो उसमें और पशुओं में सामान्य रूप से पाये जाते हैं और इसलिए वह स्वार्थ-भावना और हिंसा के भी ऊपर उठ सकता है। क्योंकि स्वार्थ-भावना और हिंसा पशु-स्वभाव के अंग हैं, मनुष्य में अन्तर्हित उसकी अमर आत्मा के नहीं। यह हिन्दू-धर्म का एक बुनियादी विचार है और इस सत्य की शोध के पीछे कितने ही तपस्वियों की अनेक वर्षों की तपस्या और साधना है। यही कारण है कि हमारे यहाँ ऐसे सन्त और महात्मा तो हुए हैं, जिन्होंने आत्मा के गूढ़ रहस्यों की शोध में अपना शरीर घिसा है और अपने प्राण दिये हैं, परन्तु पश्चिम की तरह हमारे यहाँ ऐसे लोग नहीं हुए, जिन्होंने पृथ्वी के सुदूरतम कोनों या ऊँची चोटियों की खोज में अपने प्राणों का बलिदान किया हो। इसलिए हमारे समाजवाद या साम्यवाद की रचना अहिंसा के आधार पर और मजदूरों तथा पूँजीपतियों या जमींनदारों तथा किसानों के मीठे सहयोग के आधार होनी चाहिए।[४]

साम्यवाद के अर्थ की छानबीन की जाय तो अन्त में हम इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि उसका मतलब है—वर्गहीन समाज। यह बेशक उत्तर आदर्श है और उसके लिए अवश्य कोशिश होनी चाहिए। लेकिन जब इस आदर्श को हासिल करने के लिए वह हिंसा का प्रयोग करने की बात करने लगता है, तब मेरा रास्ता उससे अलग हो जाता है।

हम सब जन्म से समान ही हैं, लेकिन हम हमेशा से भगवान् की इस इच्छा की अवज्ञा करते आये हैं। असमानता की या ऊँच-नीच की भावना एक बुराई है, किन्तु मैं इस बुराई को मनुष्य के मन से, उसे तलवार दिखाकर, निकाल भगाने में विश्वास नहीं करता। मनुष्य के मन की शुद्धि के लिए यह कोई कारगर साधन नहीं है।

...जनता पर जबरदस्ती लादा जानेवाला साम्यवाद, भारत को रुचेगा नहीं, भारत की प्रकृति के साथ उसका मेल नहीं बैठ सकता। हाँ, यदि साम्यवाद बिना किसी हिंसा के आये तो हम उसका स्वागत करेंगे।[५]...उसका उद्देश्य निजी सम्पत्ति की संस्था को मिटाना है। यह तो अपरिग्रह के नैतिक आदर्श को अर्थ के क्षेत्र में प्रयुक्त करने जैसे हुआ, और यदि लोग इस आदर्श को स्वेच्छा से स्वीकार कर लें या उन्हें शान्तिपूर्वक समझाया जाय और उसके फलस्वरूप वे उसे स्वीकार कर लें, तो इससे अच्छा कुछ हो ही नहीं सकता।...मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिंसा की नींव पर किसी भी स्थायी रचना का निर्माण नहीं हो सकता।[६]

केवल आदर्श काफी नहीं, अमल चाहिए

साम्यवादियों और समाजवादियों का कहना है कि आज तत्काल वे आर्थिक समानता को जन्म देने के लिए कुछ नहीं कर सकते। वे उसके लिए प्रचार भर कर सकते हैं। इसके लिए लोगों में द्वेष या वैर पैदा करने और उसे बढ़ाने में उनका विश्वास है। उनका कहना है कि राज्यसत्ता पाने पर वे लोगों से समानता के सिद्धान्त पर अमल करवायेंगे। मेरी योजना के अनुसार राज्य प्रजा की इच्छा को पूरी करेगा, न कि लोगों को हुक्म देगा या अपनी आज्ञा जबरन् उन पर लादेगा। मैं घृणा से नहीं, परन्तु प्रेम की शक्ति से लोगों को अपनी बात समझाऊँगा और अहिंसा द्वारा आर्थिक समानता पैदा करूँगा। (लेकिन) मैं सारे समाज को अपने मत का बनाने तक रुकूँगा नहीं, बल्कि अपने पर ही यह

प्रयोग शुरू कर दूँगा। इसमें जरा भी शक नहीं कि अगर मैं ५० मोटरों का तो क्या, १० बीघा जमीन का भी मालिक हूँ, तो मैं अपनी कल्पना की आर्थिक समानता को जन्म नहीं दे सकता। उसके लिए मुझे गरीब बन जाना होगा। यही मैं पिछले ५० सालों से या उससे भी ज्यादा वक्त से करता आया हूँ।

इसीलिए मैं पक्का कम्यूनिस्ट होने का दावा करता हूँ। अगरचे मैं धनवानों द्वारा दी गयी मोटरों या दूसरी सुविधाओं से फायदा उठाता हूँ, मगर मैं उसके वश में नहीं हूँ। अगर आम जनता के हितों का वैसा तकाजा हुआ, तो बात-की-बात में उनको मैं अपने से दूर हटा सकता हूँ।[७]

समाजवाद तक पहुँचने के लिए हम एक-दूसरे की तरफ ताकते न बैठें। जब तक सारे लोग समाजवादी न बन जायँ तब तक हम कोई हलचल न करें, अपने जीवन में कोई फेरफार न करके हम भाषण देते रहें, पार्टियाँ बनाते रहें और बाज पक्षी की तरह जहाँ शिकार मिल जाय वहाँ उस पर टूट पड़ें—यह समाजवाद हरगिज नहीं है। समाजवाद जैसी शानदार चीज झड़प मारने से हमसे दूर ही जानेवाली है।

समाजवाद की शुरुआत पहले समाजवादी से होती है। अगर एक भी ऐसा समाजवादी हो तो उसपर सिफर (शून्य) बढ़ाये जा सकते हैं। हर सिफर से उसकी कीमत दसगुनी बढ़ती जायेगी। लेकिन अगर पहला (अंक) सिफर ही हो (यानी, दूसरे शब्दों में, अगर कोई आरम्भ ही न करे) तो उसके आगे कितने ही सिफर क्यों न बढ़ाये जायँ उसकी कीमत सिफर हीं रहेगी। सिफरों को लिखने में मेहनत और कागज की बरबादी ही होगी।

जैसे साधन वैसा साध्य

समाजवाद बड़ी शुद्ध चीज है। इसलिए इसे पाने के साधन भी शुद्ध ही होने चाहिए। गन्दे साधनों से मिलनेवाली चीज भी गन्दी ही होगी।

इसलिए राजा को मारकर राजा और प्रजा एक से नहीं बन सकेंगे। मालिक का सिर काटकर मजदूर मालिक नहीं हो सकेंगे। यही बात सब पर लागू की जा सकती है।

कोई असत्य से सत्य को नहीं पा सकता। सत्य को पाने के लिए हमेशा सत्य का आचरण करना ही होगा।...सत्य में अहिंसा छिपी हुई है और अहिंसा में सत्य। इसीलिए मैंने कहा है कि सत्य और अहिंसा एक ही सिक्के के दो रूप हैं। दोनों की कीमत एक ही है। केवल पढ़ने में ही फर्क है, एक तरफ अहिंसा है। दूसरी तरफ सत्य। सम्पूर्ण पवित्रता के बिना अहिंसा और सत्य निभ ही नहीं सकते। शरीर या मन की अपवित्रता को छिपाने से असत्य और हिंसा ही पैदा होगी।

इसलिए केवल सत्यवादी, अहिंसक और पवित्र समाजवादी ही दुनिया में या हिन्दुस्तान में समाजवाद फैला सकता है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, दुनिया में ऐसा कोई भी देश नहीं है जो पूरी तरह समाजवादी हो। मेरे बताये हुए साधनों के बिना ऐसा समाज कायम करना असम्भव है।[८]

वर्गयुद्ध भारत के मूल स्वभाव के खिलाफ है। भारत में समान न्याय और सबके बुनियादी हकों के विशाल आधार पर स्थापित एक उदार किस्म का साम्यवाद निर्माण करने की क्षमता है। मेरे सपनों के रामराज्य में राजा और रंक सबके अधिकार सुरक्षित होंगे।[९]

(लेकिन) मैंने यह कभी नहीं कहा कि शोषकों और शोषितों में (हर हालत में) सहयोग होना चाहिए। जब तक शोषण और शोषण करने की इच्छा कायम है, तब तक सहयोग नहीं हो सकता। अलबत्ता, मैं यह नहीं मानता कि सब पूँजीपति और जमींदार अपनी स्थिति की किसी आन्तरिक आवश्यकता के फलस्वरूप शोषक ही हैं और न मैं यह मानता हूँ कि उसके और जनता के हितों में कोई बुनियादी या अकाट्य विरोध है। हर प्रकार का शोषण शोषित के सहयोग पर

आधारित है, फिर वह सहयोग स्वेच्छा से दिया जाता हो या लाचारी से। हम इस सचाई को स्वीकार करने से कितना ही इनकार क्यों न करें, फिर भी सचाई तो यही है कि यदि लोग शोषक की आज्ञा न मानें तो शोषण हो ही नहीं सकता। लेकिन उसमें स्वार्थ आड़े आता है और हम उन्हीं जंजीरों को अपनी छाती से लगाये रहते हैं जो हमें बाँधती हैं। यह चीज बन्द होनी चाहिए। जरूरत इस बात की नहीं है कि पूँजीपति और जमींदार खतम हो जायँ, बल्कि उनमें और आम लोगों में आज जो सम्बन्ध है, उसे बदलकर ज्यादा स्वस्थ और शुद्ध बनाने की जरूरत है।

वर्गयुद्ध अनिवार्य नहीं है

वर्गयुद्ध का विचार मुझे नहीं भाता। भारत में वर्गयुद्ध न सिर्फ अनिवार्य नहीं है बल्कि हम अहिंसा के सन्देश को समझ गये हैं तो उसे टाला जा सकता है। जो लोग वर्गयुद्ध को अनिवार्य बताते हैं, उन्होंने या तो अहिंसा के फलितार्थों को समझा नहीं है या ऊपरी तौर पर ही समझा है।

हमें पश्चिम से आये हुए मोहक नारों के असर में जाने से बचना चाहिए। क्या हमारे पास हमारी विशिष्ट परम्परा नहीं है? क्या हम श्रम और पूँजी के सवाल का कोई अपना हल नहीं निकाल सकते? वर्णाश्रम की व्यवस्था बड़े और छोटे का भेद दूर करने या पूँजी और श्रम में मेल साधने का एक उत्तम साधन नहीं तो और क्या है? इस विषय से सम्बन्धित जो कुछ भी पश्चिम से आया है, वह हिंसा के रंग में रँगा है। मैं उसका विरोध करता हूँ, क्यों कि मैंने उस नाश को देखा है जो इस मार्ग के आखिरी छोर पर हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। पश्चिम के भी ज्यादा विचारवान् लोग अब यह समझने लगे हैं कि उनकी व्यवस्था उन्हें एक गहरे गर्त की ओर ले जा रही, और वे उससे भयभीत हैं। पश्चिम में मेरा जो भी प्रभाव है, उसका कारण हिंसा और शोषण के इस दुश्चक्र से उद्धार का रास्ता ढूँढ निकालने का मेरा अथक प्रयत्न ही

है। मैं पश्चिम की समाज–व्यवस्था का सहानुभूतिशील विद्यार्थी रहा हूँ और इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि पश्चिम की इस बैचैनी और संघर्ष के पीछे सत्य की व्याकुल खोज की भावना ही है। मैं इस भावना की कीमत करता हूँ। वैज्ञानिक जाँच की उसी भावना से हम पूर्व की अपनी संस्थाओं का अध्ययन करें और मेरा विश्वास है कि दुनिया ने अभी तक जिसका सपना देखा है, उससे कही ज्यादा सच्चे समाजवाद और सच्चे साम्यवाद का हम विकास कर सकेंगे। यह मान लेना गलत है कि लोगों की गरीबी के सवाल पर पश्चिमी समाजवाद या साम्यवाद ही अन्तिम शब्द है।[१०]

मैं जमींदारों और दूसरे पूँजीपतियों का अहिंसा द्वारा हृदय–परिवर्तन करना चाहता हूँ और इसलिए वर्गयुद्ध की अनिवार्यता मैं स्वीकार नहीं करता। कम–से–कम संघर्ष का रास्ता लेना मेरे लिए अहिंसा के प्रयोग का एक जरूरी हिस्सा है। जमीन पर मेहनत करनेवाले किसान और मजदूर ज्यों ही अपनी ताकत पहचान लेंगे, त्यों ही जमींदारों की बुराई का बुरापन दूर हो जायेगा। अगर वे लोग यह कह दें कि उन्हें सभ्य जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार अपने बच्चों के भोजन, वस्त्र और शिक्षण आदि के लिए जब तक काफी मजदूरी नहीं दी जायेगी, तब तक वे जमीन को जोतेंगे–बोयेंगे ही नहीं, तो जमींनदार बेचारा कर ही क्या सकता है? सच तो यह है कि मेहनत करनेवाला जो कुछ पैदा करता है, उसका मालिक वही है। अगर मेहनत करनेवाले बुद्धिपूर्वक एक हो जायँ, तो वे एक ऐसी ताकत बन जायेंगे जिसका मुकाबला कोई नहीं कर सकता। और इसीलिए मैं वर्गयुद्ध की कोई जरूरत नहीं देखता। यदि मैं उसे अनिवार्य मानता होता तो उसका प्रचार करने में और लोगों को उसकी तालीम देने में मुझे कोई संकोच न होता।[११]

सवाल एक वर्ग को दूसरे वर्ग के खिलाफ भड़काने और भिड़ाने का नहीं है, बल्कि मजदूर–वर्ग को अपनी स्थिति के महत्त्व का ज्ञान

कराने का है। आखिर तो अमीरों की संख्या दुनिया में इनी-गिनी ही है। ज्यों ही मजदूर-वर्ग को अपनी ताकत का भान होगा और अपनी ताकत जानते हुए भी वह ईमानदारी का व्यवहार करेगा, त्यों ही वे लोग भी ईमानदारी का व्यवहार करने लगेंगे। मजदूरों को अमीरों के खिलाफ भड़काने का अर्थ वर्गद्वेष को और उससे निकलनेवाले तमाम बुरे नतीजों को जारी रखना होगा। संघर्ष एक दुष्टचक्र है और उसे किसी भी कीमत पर टालना ही चाहिए। वह दुर्बलता की स्वीकृति का, हीनता-ग्रंथि का चिह्न है। श्रम ज्यों ही अपनी स्थिति का महत्त्व और गौरव पहचान लेगा, त्यों ही धन को अपना उचित दरजा मिल जायेगा, अर्थात् अमीर उसे अपने पास मजदूरों की धरोहर के ही रूप में रखेंगे। कारण, श्रम धन से श्रेष्ठ है।[१२]

पूँजीपति समय रहते चेतें

यदि पूँजीपति-वर्ग काल का संकेत समझकर सम्पत्ति के बारे में अपने इस विचार को बदल डालें कि उसपर उनका ईश्वर-प्रदत्त अधिकार है, तो जो सात लाख घूरे आज गाँव कहलाते हैं उन्हें आनन-फानन में शान्ति, स्वास्थ्य और सुख के धाम बनाया जा सकता है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि यदि पूँजीपति (अपने आपको गरीबों का संरक्षक मानें) तो वे सचमुच कुछ खोयेंगे नहीं और सब कुछ पायेंगे। केवल दो मार्ग हैं जिनमें से हमें अपना चुनाव कर लेना है। एक तो यह कि पूँजीपति अपना अतिक्ति संग्रह स्वेच्छा से छोड़ दें और उसके परिणाम स्वरूप सबको वास्तविक सुख प्राप्त हो जाय। दूसरा यह कि अगर पूँजीपति समय रहते न चेतें तो करोड़ों जाग्रत किन्तु अज्ञान और भूखे लोग देश में ऐसी गड़बड़ मचा दें, जिसे एक बलशाली हुकूमत की फौजी ताकत भी नहीं रोक सकती। मैंने यह आशा रखी है कि भारतवर्ष इस विपत्ति से बचने में सफल रहेगा।[१३]

१०.अहिंसक जीवन के लिए योजना

मनुष्य-जाति ईश्वर को...जिन अनन्त नामों से पहचानती है, उसमें से एक नाम 'दरिद्र-नारायण' है, उसका अर्थ है गरीबों का या गरीबों के हृदय में प्रकट होनेवाला ईश्वर।[१]

भूखों मरता आदमी अन्य सब बातों से पहले अपनी भूख बुझाने का ही विचार करता है। वह रोटी का एक टुकड़ा पाने के लिए अपनी स्वतंत्रता और अपना सब कुछ बेच डालेगा। भारत में लाखों आदमियों की आज ऐसी ही स्थिति है। उसकी दृष्टि में स्वतंत्रता, ईश्वर और ऐसे दूसरे शब्द निरर्थक हैं। वे उनके कानों को कड़वे लगते हैं, अगर हम इन लोगों में (स्वराज्य के लिए) भावना पैदा करना चाहते हैं, तो हमें उन्हें काम देना होगा—(ऐसा काम) जिसे वे अपने उजाड़ घरों में आसानी से कर सकें और जो उन्हें कम-से-कम पेट भरने के साधन मुहैया कर सकें।[२]

मेरा पक्का विश्वास है कि हाथ-कताई और हाथ-बुनाई के पुनरुज्जीवन से भारत के आर्थिक और नैतिक पुनरुद्धार में सबसे बड़ी मदद मिलेगी। करोड़ों आदमियों को खेती की आय में वृद्धि करने के लिए कोई सादा उद्योग चाहिए। वर्षों पहले वह गृह-उद्योग कताई का था, और करोड़ों को भूखों मरने से बचाना हो तो उन्हें इस योग्य बनाना पड़ेगा कि वे अपने घरों में फिर से कताई जारी कर सकें और हर गाँव को अपना ही बुनकर फिर से मिल जाय।[३]

केन्द्र-बिन्दु चरखा क्यों?

मैं...चरखे के लिए इस सम्मान का दावा करता हूँ कि वह हमारी गरीबी की समस्या को लगभग बिना कुछ खर्च किये और बिना किसी दिखावे के अत्यन्त और स्वभाविक ढंग से हल कर सकता है। इसलिए

चरखा न केवल निरुपयोगी नहीं है...बल्कि वह एक ऐसी आवश्यक चीज है जो हरएक घर में होनी ही चाहिए। वह राष्ट्र की समृद्धि का और इसलिए उसकी आजादी का चिन्ह है।

चरखा व्यापारिक युद्ध की नहीं, व्यापारिक शान्ति की निशानी है। उसका सन्देश संसार के राष्ट्रों के लिए दुर्भाव का नहीं, परन्तु सद्भाव का और स्वावलम्बन का है। उसे संसार की शन्ति के लिए खतरा बननेवाली या उसके साधनों का शोषण करनेवाली किसी जलसेना के संरक्षण की जरूरत नहीं होगी, परन्तु उसे जरूरत होगी ऐसे लाखों लोगों के धार्मिक निश्चय की, जो अपने-अपने घरों में उसी तरह सूत कात लें जैसे आज वे अपने-अपने घरों में भोजन बना लेते हैं। मैंने करने के काम न करके और न करने के काम करके ऐसी अनेक भूलें की हैं, जिनके लिए मैं भावी सन्तानों के शाप का भाजन बन सकता हूँ। मगर मुझे विश्वास है कि चरखों का पुनरुद्धार सुझाकर तो मैं उनके आशीर्वाद का ही अधिकारी बना हूँ। मैंने उस पर सारी बाजी लगा दी है, क्यों कि चरखे के हर तार में शान्ति, सद्भाव और प्रेम की भावना भरी है। और चूँकि चरखे को छोड़ देने से हिन्दुस्तान गुलाम बना है, इसलिए चरखे के सब फलितार्थों के साथ उसके स्वेच्छापूर्ण पुनरुद्धार का अर्थ होगा हिन्दुस्तान की (सच्ची) स्वतंत्रता।[४]

सारे देश में भारी-भारी यांत्रिक उद्योग खड़े कर देने की इस जमाने की धुन में मेरे इस विचार...के विषय में कुछ लोगों ने शंका उठायी है। इसके विरोध में यह कहा गया है कि यांत्रिक उद्योगों की प्रगति के कारण जनसाधारण की दरिद्रता जो बढ़ती जाती है वह अनिवार्य है, और इसलिए उसको सहन करना ही चाहिए। इस अनिष्ट को सहन करना तो दूर, मैं तो यह भी नहीं मानता कि वह अनिवार्य है। अखिल भारत चरखा-संघ ने सफलतापूर्वक यह बता दिया है कि लोगों के फुरसत के समय का उपयोग अगर कताई और उसके पूर्व की क्रियाओं

में किया जाय, तो इतने मात्र से गाँवों में हिन्दुस्तान की जरूरत के लायक कपड़ा पैदा हो सकता है।[५]

केन्द्रीकरण के खिलाफ़ बगावत

चन्द लोगों के हाथ में धन और सत्ता का केन्द्रीकरण करने के लिए यंत्रों के संगठन को मैं बिलकुल गलत समझता हूँ। आजकल यंत्रों की अधिकांश योजनाओं का यही उद्‌देश्य होता है। चरखे का आन्दोलन यंत्रों द्वारा होनेवाला शोषण और धन तथा सत्ता का यह केन्द्रीकरण रोकने के लिए किया जा रहा संगठित प्रयत्न है।[६]

चरखा मुझे जनसाधारण की आशाओं का प्रतीक मालूम होता है। चरखे को खोकर उन्होंने अपनी आजादी, जैसी कुछ भी वह थी, खो दी। चरखा देहात की खेती की पूर्ति करता था और उसे गौरव प्रदान करता था। वह विधवाओं का मित्र और सहारा था। वह देहातियों को आलस्य से बचाता था, क्यों कि चरखे में पहले और पीछे के सब उद्योग—लोढाई, पिंजाई, ताना करना, माँड़ लगाना, रँगाई और बुनाई—आ जाते थे। और इनसे गाँव के बढ़ई और लोहार काम में लगे रहते थे। चरखे से सात लाख गाँव आत्मनिर्भर रहते थे। चरखे चले जाने पर तेलघानी आदि दूसरे ग्रामोद्योग भी खतम हो गये। इन धन्धों की जगह और किसी धन्धे ने नहीं ली। इसलिए गाँवों के विविध धन्धे, उनकी उत्पादक प्रतिभा और उनसे होनेवाली थोड़ी आमदनी, सबका सफाया हो गया।

इसलिए अगर ग्रामीणों को फिर से अपनी स्थिति में वापस आना हो, तो सबसे स्वाभाविक बात...यह है कि चरखे और उसके साथ लगी हुई सब बातों का पुनरुद्धार हो। यह पुनरुद्धार तब तक नहीं हो सकता जब तक बुद्धि और देशभक्तिवाले निःस्वार्थ भारतीयों की एक सेना न हो और वह चरखे का सन्देश देहातियों में फैलाने और उनकी निस्तेज आँखों में आशा और प्रकाश की किरण जगाने के लिए दत्तचित्त होकर

काम न करने लगे। यह सही ढंग के सहयोग और प्रौढ़-शिक्षा का जबरदस्त प्रयत्न है। यह चरखे की शान्त, परन्तु प्राणदायक गति की तरह ही एक शान्त और निश्चित क्रान्ति को लानेवाला है।[७]

खादी एकता, स्वतंत्रता और समानता की प्रतीक

मेरे विचार में खादी हिन्दुस्तान की समस्त जनता की एकता की, उसकी आर्थिक स्वतंत्रता और समानता की प्रतीक है। इसके सिवा, खादी-वृत्ति का अर्थ है, जीवन के लिए जरूरी चीजों की उत्पत्ति और उनके बँटवारे का विकेन्द्रीकरण, इसलिए अब तक जो सिद्धान्त बना है, वह यह है कि हरएक गाँव को अपनी जरूरत की सब चीजें खुद पैदा कर लेनी चाहिए, और शहरों की जरूरतें पूरी करने के लिए कुछ अधिक उत्पत्ति करनी चाहिए।

जब से गाँवों में चलनेवाले अनेक उद्योगों में इस मुख्य उद्योग का और इसके आसपास जुड़ी हुई कई दस्तकारियों का बिना सोचे-समझे, मनमाने तरीके से और बेरहमी के साथ नाश किया गया है, तब से हमारे गाँवों की बुद्धि और तेज नष्ट हो गया है। वे सब निस्तेज और निष्प्राण बन गये हैं, और उनकी हालत उनके अपने भूखों मरनेवाले मरियल ढोरों की-सी हो गयी है।[८]

मैं जितनी बार चरखे पर सूत निकालता हूँ उतनी ही बार भारत के गरीबों का विचार करता हूँ। भूख की पीड़ा से व्यथित और पेट भरने के सिवा और कोई इच्छा न रखनेवाले मनुष्य के लिए उसका पेट ही ईश्वर है। उसे जो रोटी देता है, वही उसका मालिक है। उसके द्वारा वह ईश्वर के भी दर्शन कर सकता है। ऐसे लोगों को, जिनके हाथ-पैर सही-सलामत हैं, दान देना अपना और उनका दोनों का पतन करना है। उन्हें तो किसी-न-किसी तरह के धन्धे की जरूरत है और वह धन्धा, जो करोड़ों को काम देगा, केवल हाथ-कताई का ही हो सकता है।... इसलिए मैंने कताई को प्रायश्चित या यज्ञ बताया है। और चूँकि मैं

मानता हूँ कि जहाँ गरीबों के लिए शुद्ध और सक्रिय प्रेम है, वहाँ ईश्वर भी है, इसलिए चरखे पर मैं जो सूत निकालता हूँ उसके एक-एक धागे में मुझे ईश्वर दिखायी देता है।[९]

मैं इससे ज्यादा उदात्त और ज्यादा राष्ट्रीय किसी दूसरी चीज की कल्पना नहीं कर सकता कि प्रतिदिन एक घण्टा हम सब कोई ऐसा परिश्रम करें जो गरीबों को करना ही पड़ता है और इस तरह उनके साथ और उनके द्वारा सारी मानव-जाति के साथ अपनी एकता साधें। मैं भगवान् की इससे अच्छी पूजा की कल्पना नहीं कर सकता कि उसके नाम पर मैं गरीबों के लिए गरीबों की ही तरह परिश्रम करूँ।...जब मैं सोचता हूँ कि यज्ञार्थ किये जानेवाले (इस) शरीर-श्रम का सबसे अच्छा और सबको स्वीकार्य रूप क्या होगा, तो मुझे कताई के सिवा और कुछ नहीं सूझता।[१०]

गाँवों का पुनर्निर्माण ग्रामोद्योगों के बिना सम्भव नहीं

खादी के मुकाबले देहात में चलनेवाले और देहात के लिए जरूरी दूसरे धन्धों की बात अलग है। उन सब धन्धों में अपनी राजी-खुशी से मजदूरी करने की बात बहुत उपयोगी होने जैसी नहीं है। फिर, उनमें से हरएक धन्धा या उद्योग ऐसा है, जिसमें एक खास तादाद में ही लोगों को मजदूरी मिल सकती है। इसलिए ये उद्योग खादी के मुख्य काम में सहायक हो सकते हैं, खादी के अभाव में उनकी कोई हस्ती नहीं है, और उनके बिना खादी का गौरव या शोभा नहीं है। हाथ से पीसना, हाथ से कूटना और पछोरना, साबुन बनाना, कागज बनाना, चमड़ा बनाना, तेल पेरना और इस तरह के सामाजिक जीवन के लिए जरूरी और महत्त्व के दूसरे धन्धों के बिना गाँवों की आर्थिक रचना सम्पूर्ण नहीं हो सकती, यानी गाँव स्वयंपूर्ण घटक नहीं बन सकते। हरएक आदमी को, हर हिन्दुस्तानी को, इसे अपना धर्म समझना चाहिए कि जब-जब और जहाँ-जहाँ मिले, वहाँ वह हमेशा गाँवों की बनी चीजें ही बरते। अगर

ऐसी चीजों की माँग पैदा हो जाय, तो इसमें जरा भी शक नहीं कि हमारी ज्यादातर जरूरतें गाँवों से पूरी हो सकती हैं। जब हम गाँवों के लिए सहानुभूति से सोचने लगेंगे और गाँवों की बनी चीजें हमें पसन्द आने लगेंगी, तो पश्चिम की नकल के रूप में यंत्रों की बनी चीजें हमें नहीं जँचेंगी, और हम ऐसी राष्ट्रीय अभिरुचि का विकास करेंगे, जो गरीबी, भुखमरी और आलस्य या बेकारी से मुक्त नये हिन्दुस्तान के आदर्श के साथ मेल खाती होगी।[११]

हममें से हरएक आदमी खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने और अपने नित्य के उपयोग की चीजों को जाँच-परख सकता है, और विदेशी अथवा शहर की बनी चीजों की जगह ग्रामवासियों की बनायी हुई उन चीजों को काम में ला सकता है, जिन्हें कि वे अपनी मड़ैया में या खेत-खलिहान में चार-छह पैसे के मामूली औजारों से सहज ही तैयार कर सकते हैं। इन औजारों को वे लोग आसानी से चला सकते हैं और बिगड़ जायँ तो उन्हें सुधार भी सकते हैं। विदेशी या शहर की बनी चीजों की जगह गाँवों की बनी चीजों को आप काम में लाने लगें, तो ग्रामोद्योग-कार्य का यह बड़ा अच्छा आरम्भ होगा, और आपके लिए यह खुद ही एक बड़े महत्त्व की चीज होगी। इसके बाद फिर क्या करना होगा, यह तो अपने आप ही मालूम हो जायेगा। मान लीजिए कि आज तक कोई आदमी बम्बई के किसी कल-कारखाने के बने टुथब्रश से दाँत साफ करता आ रहा है। अब उसकी जगह वह गाँव का बना टुथब्रश चाहता है। तो उसे बबूल या नीम की दातौन से दाँत साफ करने की सलाह दें। दातौन का यह ब्रश सस्ता भी काफी पड़ेगा और कारखानों के बने हुए अस्वच्छ ब्रशों से स्वच्छ भी अधिक होगा। शहरों के बने दन्तमंजनों को वह छुयेगा ही नहीं। वह तो लकड़ी के कोयले को खूब महीन पीसकर और उसमें थोड़ा-सा साफ नमक मिलाकर अपने घर में ही बढ़िया मंजन तैयार कर लेगा। मिल के बने कपड़े के

बजाय वह गाँव की बुनी खादी पहनेगा, मिल के चावल की जगह हाथ के कूटे बिना पालिश किये चावल का और सफेद शक्कर के स्थान पर बने गुड़ का उपयोग करेगा। इन चीजों को मैंने यहाँ बतौर नमूने के ही दिया है।[१२]

सरकार का कर्तव्य

सरकारों को चाहिए कि गाँववालों को यह सूचना कर दे कि उनसे यह आशा रखी जायेगी कि वे अपने गाँव की जरूरतों के लिए एक निश्चित तारीख के अन्दर खादी तैयार करें। इसके बाद उनको कोई कपड़ा नहीं दिया जायेगा। सरकार अपनी तरफ से गाँववालों को बिनौला या रुई जिसकी भी जरूरत हो दाम के दाम देगी और उत्पादन के औजार भी ऐसे दामों पर देगी जो आसानी से वसूल होनेवाली किश्तों में लगभग पाँच साल या इससे भी ज्यादा में अदा हो सके। सरकार जहाँ कहीं जरूरी हो उन्हें सिखानेवाले भी दे और यह जिम्मा ले कि अगर गाँववालों के पास उनकी तैयार की हुई खादी से उनकी जरूरतें पूरी हो जायँ, तो फालतू खादी सरकार खरीद लेगी। इस तरह बिना हलचल के और बहुत थोड़े ऊपरी खर्च के साथ कपड़े की कमी दूर हो जायगी।

गाँव की जाँच-पड़ताल की जायेगी और ऐसी चीजों की एक सूची तैयार की जायेगी, जो किसी मदद के बिना या बहुत थोड़ी मदद से स्थानीय स्तर पर तैयार हो सकती है और जिनकी जरूरत गाँव में बरतने के लिए या बाहर बेचने के लिए हो। जैसे, घानी का तेल, घानी की खली, घानी से निकला हुआ जलाने का तेल, हाथ का कूटा हुआ चावल, ताड़ का गुड़, शहद, खिलौने, मिठाइयाँ, चटाइयाँ, हाथ से बना हुआ कागज, गाँव का साबुन वगैरह चीजें। अगर इस तरह काफी ध्यान दिया जाय तो उन गाँवों में, जिनमें से ज्यादातर उजड़ चुके हैं या उजड़ रहे हैं, जीवन की चहल-पहल पैदा हो जाय और उनमें अपनी और

हिन्दुस्तान के शहरों और कस्बों की बहुत काफी जरूरतें पूरा करने की जो शक्ति है, वह दिखायी पड़ने लगे।

गोरक्षा

फिर हिन्दुस्तान में अनगिनत पशुधन है, जिसकी तरफ हमने ध्यान न देकर गुनाह किया है।[१३] ...गोरक्षा मुझे मनुष्य के सारे विकास-क्रम में सबसे अलौकिक वस्तु मालूम हुई है। गाय का अर्थ मैं मनुष्य से नीचे की सारी गूँगी दुनिया करता हूँ। इसमें गाय के बहाने इस तत्त्व द्वारा मनुष्य को सम्पूर्ण चेतन-सृष्टि के साथ आत्मीयता का अनुभव कराने का प्रयत्न है। मुझे तो यह भी स्पष्ट दीखता है कि गाय को ही यह भेदभाव क्यों प्रदान किया होगा। हिन्दुस्तान में गाय ही मनुष्य का सबसे अच्छा साथी, सबसे बड़ा आधार था। यही हिन्दुस्तान की एक कामधेनु थी। वह सिर्फ दूध ही नहीं देती थी, बल्कि सारी खेती का आधार-स्तम्भ थी। गाय दया-धर्म की मूर्तिमन्त कविता है। इस गरीब और शरीफ जानवर में हम केवल दया ही उमड़ती देखते हैं। यह लाखों-करोड़ों हिन्दुस्तानियों को पालनेवाली माता है। इस गाय की रक्षा करना ईश्वर की सारी मूक सृष्टि की रक्षा करना है। जिस अज्ञात ऋषि या द्रष्टा ने गोपूजा चलायी उसने गाय से (सिर्फ) शुरुआत की। इसके सिवा और कोई ध्येय हो ही नहीं सकता है। इस पशुसृष्टि की फरियाद मूक होने से और भी प्रभावशाली है। गोरक्षा हिन्दू-धर्म की दुनिया को दी हुई एक कीमती भेंट है।[१४]

गोमाता जन्म देनेवाली माँ से कहीं बढ़कर है। माँ तो साल-दो-साल दूध पिलाकर हमसे फिर जीवनभर सेवा की आशा रखती है। पर गोमाता को सिवा दाने और घास के कोई सेवा की आवश्यकता ही नहीं। माँ की तो हमें उसकी बीमारी में सेवा करनी पड़ती है। परन्तु गोमाता स्वयं केवल जीवन-पर्यन्त हमारी अटूट सेवा ही नहीं करती, बल्कि उसके मरने के बाद भी हम उसके मांस, चर्म, हड्डी, सींग आदि से

अनेक लाभ उठाते हैं। यह सब मैं जन्मदात्री माता का दरजा कम करने को नहीं कहता, बल्कि यह दिखाने के लिए कहता हूँ कि गोमाता हमारे लिए कितनी पूज्य है।[१५]

हमारे ढोरों की दुर्दशा के लिए अपनी गरीबी का राग हम नहीं अलाप सकते। यह हमारी निर्दय लापरवाही के सिवा और किसी भी बात की सूचक नहीं है। हालाँकि हमारे पिंजरापोल हमारी दयावृत्ति पर खड़ी हुई संस्थाएँ हैं, तो भी वे उस वृत्ति का अत्यन्त भद्दा अमल करनेवाली संस्थाएँ ही हैं। वे आदर्श गोशालाओं या डेरियों और समृद्ध राष्ट्रीय संस्थाओं के रूप में चलने के बजाय केवल लूले-लँगड़े ढोर रखने के धर्मादा खाते बन गये हैं। गोरक्षा के धर्म का दावा करते हुए भी हमने गाय और उसकी सन्तान को गुलाम बनाया है और हम खुद भी गुलाम बन गये हैं।[१६]

सवाल यह (किया जाता) है कि जब गाय अपने पालन-पोषण के खर्च से भी कम दूध देने लगती है या दूसरी तरफ से नुकसान पहुँचानेवाला बोझ बन जाती है, तब बिना मारे उसे कैसे बचाया जा सकता है? इस सवाल का जवाब थोड़े में इस तरह दिया जा सकता है कि जानवरों के पालन-पोषण का विज्ञान सीखकर गाय की रक्षा की जा सकती है। आज तो इस काम में पूरी अन्धाधुन्धी चलती है।...हिन्दू गाय और उसकी सन्तान की तरफ अपना फर्ज पूरा करके उसे बचा सकते हैं। अगर वे ऐसा करें तो हमारे जानवर हिन्दुस्तान और दुनिया के गौरव बन सकते हैं। आज उससे बिलकुल उल्टा हो रहा है।

(फिर) हिन्दुस्तान के सारे पिंजरापोलों का पूरा-पूरा सुधार किया ज़ाना चाहिए। आज तो हर जगह पिंजरापोल का इन्तजाम ऐसे लोग करते हैं, जिसके पास न कोई योजना होती है और न ये अपने काम की जानकारी ही रखते हैं।

ऊपर बतायी हुई बातों के पीछे एक खास चीज है। यह है अहिंसा, जिसे दूसरे शब्दों में प्राणीमात्र पर दया कहा जाता है। अगर इस सबसे

बड़े महत्त्व की बात को समझ लिया जाय, तो दूसरी सब बातें आसान बन जाती हैं। जहाँ अहिंसा है वहाँ अपार धीरज, भीतरी शान्ति, भले-बुरे का ज्ञान, आत्म-त्याग और सच्ची जानकारी भी है। गोरक्षा कोई आसान काम नहीं है। उसके नाम पर देश में बहुत पैसा बरबाद किया जाता है। फिर भी अहिंसा (का भान) न होने से हिन्दू गाय के रक्षक के बजाय उसके नाश करनेवाले बन गये हैं। गोरक्षा का काम हिन्दुस्तान से विदेशी हुकूमत को हटाने के काम से भी ज्यादा कठिन है।[१६]

मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि हम भैंस के दूध-घी का कितना पक्षपात करते हैं! असल में हम निकट का स्वार्थ देखते हैं, दूर के लाभ का विचार नहीं करते। नहीं तो यह साफ है कि अन्त में गाय ही ज्यादा उपयोगी है। गाय के घी और मक्खन में एक खास तरह का पीला रंग होता है, जिसमें भैंस के मक्खन से कहीं अधिक कैरोटीन यानी विटामिन 'ए' रहता है। उसमें एक खास तरह का स्वाद भी है। मुझसे मिलने आनेवाले विदेशी यात्री सेवाग्राम में गाय का शुद्ध दूध पीकर खुश हो जाते हैं। और यूरोप में तो भैंस के घी और मक्खन के बारे में कोई जानता ही नहीं। हिन्दुस्तान ही ऐसा देश है, जहाँ भैंस का घी-दूध इतना पसन्द किया जाता है। इससे गाय की बरबादी हुई है। इसलिए मैं कहता हूँ कि हम सिर्फ गाय पर ही जोर न देंगे, तो गाय नहीं बच सकेगी।[१८]

गोवधबन्दी

मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि कानून बनाकर गोवध बन्द कराने से गोरक्षा नहीं हो जाती। वह तो गोरक्षा के काम का छोटे-से-छोटा भाग है।...लोग ऐसा मानते दीखते हैं कि किसी भी बुराई के विरुद्ध कोई कानून बना कि तुरन्त वह बिना किसी झंझट के मिट जायेगी। ऐसी भयंकर आत्म-वंचना और कोई नहीं हो सकती। किसी दुष्ट बुद्धिवाले अज्ञानी या छोटे-से समाज के खिलाफ कानून बनाया

जाता है और उसका असर भी होता है। लेकिन जिस कानून के विरुद्ध समझदार और संगठित लोकमत हो, या धर्म के बहाने छोटे-से-छोटे मण्डल का भी विरोध हो, वह कानून सफल नहीं होता। गोरक्षा के प्रश्न का जैसे-जैसे मैं अधिक अध्ययन करता जाता हूँ, वैसे-वैसे मेरा यह मत दृढ़ होता जाता है कि गाँवों और उनकी जनता की रक्षा तभी हो सकती है, जब कि मेरी ऊपरी बतायी हुई दिशा में निरन्तर प्रयत्न किया जाय।[१९]

प्रत्येक किसान अपने घर में गाय-बैल रखकर उनका पालन भलीभाँती और शास्त्रीय पद्धति से नहीं कर सकता। गोवंश के ह्रास के अनेक कारणों में व्यक्तिगत गोपालन भी एक कारण रहा है। यह बोझ वैयक्तिक किसान की शक्ति के बिलकुल बाहर है।...

हमारी आबादी बढ़ती जा रही है और उसके साथ किसान की व्यक्तिगत जमीन कम होती जा रही है। नतीजा यह हुआ कि प्रत्येक किसान के पास जितनी चाहिए उतनी जमीन नहीं है। ऐसा किसान अपने घर में या खेत पर गाय-बैल नहीं रख सकता। रखता है तो अपने हाथों अपनी बरबादी को न्योता भी देता है। आज हिन्दुस्तान की यही हालत है। धर्म, दया या नीति की परवाह न करनेवाला अर्थशास्त्र तो पुकार-पुकार कर कहता है कि आज हिन्दुस्तान में लाखों पशु मनुष्य को खा रहे हैं। क्यों कि उनसे कुछ लाभ न पहुँचने पर भी उन्हें खिलाना तो पड़ता ही है। इसलिए उन्हें मार डालना चाहिए। लेकिन धर्म कहो, नीति कहो या दया कहो, ये हमें इन निकम्मे पशुओं को मारने से रोकते हैं।

इस हालत में क्या किया जाय? यही कि जितना प्रयत्न पशुओं को जीवित रखने और उन्हें बोझ न बनने देने का हो सकता है, उतना किया जाय। इस प्रयत्न में सहयोग का बड़ा महत्त्व है। सहयोग अथवा सामुदायिक पद्धति से पशुपालन करने से अनेक लाभ हैं। मेरा तो विश्वास है कि हम अपनी जमीन को (भी जब) सामुदायिक पद्धति से

जोतेंगे, तभी उससे पूरा फायदा उठा सकेंगे। गाँव की खेती अलग-अलग सौ टुकड़ों में बँट जाय, इसके बनिस्बत क्या यह बेहतर नहीं होगा कि सौ कुटुम्ब सारे गाँव की खेती सहयोग से करें और उसकी आमदनी आपस में बाँट लिया करें? और जो खेती के लिए सच है, वह पशुओं के लिए भी सच है।

यह दूसरी बात है कि आज लोगों को सहयोग की पद्धति पर लाने में कठिनाई है। कठिनाई तो सभी सच्चे और अच्छे कामों में होती है। गो-सेवा के सभी अंग कठिन हैं। कठिनाइयाँ दूर करने से ही सेवा मार्ग सुगम बन सकता है। यहाँ तो मुझे इतना ही बताना था कि...वैयक्तिक पद्धति गलत है, सामुदायिक सही है। व्यक्ति अपनी स्वातंत्र्य की रक्षा भी सहयोग को स्वीकार करके ही कर सकता है। अतएव सामुदायिक पद्धति अहिंसात्मक है, वैयक्तिक हिंसात्मक।[२०]

सफाई और खाद

श्रम और बुद्धि के बीच जो अलगाव हो गया है, उसके कारण हम अपने गाँवों के प्रति इतने लापरवाह हो गये हैं कि वह एक गुनाह ही माना जा सकता है। नतीजा यह हुआ है कि देश में जगह-जगह सुहावने और मनभावने छोटे-छोटे गाँवों के बदले हमें घूरे जैसे गन्दे गाँव देखने को मिलते हैं। बहुत से या यों कहिए कि करीब-करीब सभी गाँवों में घुसते समय जो अनुभव होता है, उससे दिल को खुशी नहीं होती। गाँव के बाहर और आसपास इतनी गन्दगी होती है और वहाँ इतनी बदबू आती है कि अकसर गाँव में जानेवाले को आँख मूँदकर और नाक दबाकर ही जाना पड़ता है।

...हमने राष्ट्रीय या सामाजिक सफाई को न तो जरूरी गुण माना, और न उसका विकास ही किया। यों रिवाज के कारण हम अपने ढंग से नहा भर लेते हैं मगर जिस नदी, तालाब या कुएँ के किनारे हम श्राद्ध या वैसी ही दूसरी कोई धार्मिक क्रिया करते हैं और जिन जलाशयों में

पवित्र होने के विचार से हम नहाते हैं, उनके पानी को बिगाड़ने या गन्दा करने में हमें कोई हिचक नहीं होती। हमारी इस कमजोरी को मैं एक बड़ा दुर्गुण मानता हूँ। इस दुर्गुण का ही यह नतीजा है कि हमारे गाँवों की और हमारी पवित्र नदियों के पवित्र तटों की लज्जाजनक दुर्दशा और गन्दगी से पैदा होनेवाली बीमारियाँ हमें भोगनी पड़ती हैं।[२१]

गाँव के कार्यकर्ता को सबसे पहले गाँव की सफाई और आरोग्य के सवाल को अपने हाथ में लेना चाहिए। यों तो ग्रामसेवकों को किंकर्तव्य-विमूढ़ बना देनेवाली अनेक समस्याएँ हैं, पर यह समस्या ऐसी है जिसकी सबसे अधिक लापरवाही की जा रही है। फलत: गाँवों की तन्दुरुस्ती बिगड़ती रहती है और रोग फैलते रहते हैं। अगर ग्रामसेवक स्वेच्छापूर्वक भंगी बन जाय, तो वह प्रतिदिन मैला उठाकर उसकी खाद बना सकता है और गाँव के रास्ते बहार सकता है। वह लोगों से कहे कि उन्हें पाखाना-पेशाब कहाँ करना चाहिए, किस तरह सफाई रखनी चाहिए, उसके क्या लाभ हैं, और उसके न रखने से क्या-क्या नुकसान होते हैं। गाँव के लोग उसकी बात चाहे सुनें, या न सुनें, वह अपना काम बराबर करता रहे।[२२]

अगर कार्यकर्ता लोग नौकर रखे हुए भंगियों की भाँति खुद रोज सफाई का काम करना शुरू कर दें और साथ ही गाँववालों को यह भी बतलाते रहें कि उनसे सफाई के कार्य में शरीक होने की आशा रखी जाती है, ताकि आगे चलकर अन्त में सारा काम गाँववाले इस कार्य में अवश्य सहयोग देने लगेंगे।

वहाँ के बाजार तथा गलियों को सब प्रकार का कूड़ा-करकट हटाकर स्वच्छ बना लेना चाहिए। फिर उस कूड़े का वर्गीकरण कर देना चाहिए। उसमें से कुछ की तो खाद बनायी जा सकती है, कुछ को सिर्फ जमीन में गाड़ देना भर बस होगा और कुछ हिस्सा ऐसा होगा कि जो सीधा सम्पत्ति के रूप में परिणत किया जा सकेगा। वहाँ मिली हुई

प्रत्येक हड्डी एक बहुमूल्य कच्चा माल होगी, जिससे बहुत-सी उपयोगी चीजें बनायी जा सकेंगी, या जिसे पीसकर कीमती खाद बनायी जा सकेगी। कपड़े के फटे-पुराने चिथड़ों तथा रद्दी कागजों से कागज बनाये जा सकते हैं और इधर-उधर से इकट्ठा किया हुआ मल-मूत्र गाँव के खेतों के लिए सुनहली खाद का काम देगा। मल-मूत्र को उपयोगी बनाने के लिए यह करना चाहिए कि उसके साथ—चाहे वह सूखा हो या तरल—मिट्टी मिलाकर उसे ज्यादा-से-ज्यादा एक फुट गहरा गड्ढा खोदकर जमीन में गाड़ दिया जाय।...जमीन की ऊपरी सतह सूक्ष्म जीवों से परिपूर्ण होती है और हवा एवं रोशनी की सहायता से—जो कि आसानी से वहाँ तक पहुँच जाती है—यह जीव मल-मूत्र को एक हफ्ते के अन्दर एक अच्छी, मुलायम और सुगन्धित मिट्टी में बदल देते हैं।...कोई भी उद्योग ग्रामवासी कम-से-कम इतना काम तो खुद भी कर ही सकता है कि मल-मूत्र को एकत्र करके उसको अपने लिए सम्पत्ति में परिवर्तित कर दे। आजकल तो यह सारी कीमती खाद, जो लाखों रुपये की कीमत की है, प्रतिदिन व्यर्थ जाती है और बदले में हवा को गन्दी करती तथा बीमारियाँ फैलाती रहती हैं।[२३]

गोबर, कचरे और मनुष्य के मल वगैरा में से खुबसूरत और सुगन्धित खाद मिल सकती है। यह सुनहली चीज है। धूल में धन पैदा करने की बात है।...यह खाद बनाना भी एक ग्रामोद्योग है। यह तभी चल सकता है, जब करोड़ों उसमें हिस्सा लें, मदद दें।[२४]...भारत की जनता इस प्रयत्न में खुशी से सहयोग करे तो यह देश न सिर्फ अनाज की कमी को पूरा कर सकता है, बल्कि हमें जितना चाहिए, उससे कहीं ज्यादा अनाज पैदा कर सकता है। यह जीवित खाद (ऑरगेनिक मैन्यूर)जमीन के उपजाऊपन को हमेशा बढ़ाती ही है, कभी कम नहीं करती। हर दिन जो कूड़ा इकट्ठा होता है, उसे ठीक विधि के अनुसार गड्ढों में इकट्ठा किया जाय तो उसकी खाद बन जाती है, और तब

उसे खेती की जमीन में मिला दिया जाय तो उससे अनाज की उपज कई गुनी बढ़ जाती है और फलत: हमें करोड़ों रुपयों की बचत होती है। इसके सिवा कूड़े-कचरे का इस तरह खाद बनाने के लिए उपयोग कर लिया जाय तो आसपास की जगह साफ रहती है। और स्वच्छता एक सद्गुण होने के साथ-साथ स्वास्थ्य की पोषक भी है।[२५]

अगर मैले का ठीक-ठीक उपयोग किया जाय, तो हमें लाखों रुपयों की कीमत की खाद मिले और साथ ही कितनी ही बीमारियों से मुक्ति मिल जाय। अपनी गन्दी आदतों से हम अपनी पवित्र नदियों के किनारे बिगाड़ते हैं और मक्खियों की पैदाइश के लिए बढ़िया जमीन तैयार करते हैं। परिणाम यह होता है कि हमारी दण्डनीय लापरवाही के कारण जो मक्खियाँ खुले मैले पर बैठती हैं, वे ही हमारे नहाने के बाद हमारे शरीर पर बैठती हैं और उसे गन्दा बनाती हैं। इस भयंकर गन्दगी से बचने के लिए कोई बड़ा साधन नहीं चाहिए, मात्र मामूली फावड़े का उपयोग करने की जरूरत है। जहाँ-तहाँ शौच के लिए बैठ जाना, नाक साफ करना या सड़क पर थूकना ईश्वर और मानव-जाति के खिलाफ अपराध है और दूसरों के प्रति लिहाज की दयनीय कमी प्रकट करता है। जो आदमी अपनी गन्दगी को ढँकता नहीं है वह भारी सजा का पात्र है, फिर चाहे वह जंगल में ही क्यों न रहता हो।[२६]

गाँवों के तालाबों से स्त्री और पुरुष सब स्नान करने, कपड़े धोने, पानी पीने तथा भोजन बनाने का काम लिया करते हैं। बहुत से गाँवों के तालाब पशुओं के काम भी आते हैं। बहुधा उनमें भैंसें बैठी हुई पायी जाती हैं। आश्चर्य तो यह है कि तालाबों का इतना पापपूर्ण दुरुपयोग होते रहने पर महामारियों से गाँवों का नाश अब तक क्यों नहीं हो पाया है? आरोग्य-विज्ञान इस विषय में एकमत है कि पानी की सफाई के सम्बन्ध में गाँववालों की उपेक्षा-वृत्ति ही उनकी बहुत-सी बीमारियों का कारण है।[२७]

गाँव की बसावट

आदर्श भारतीय गाँव इस तरह बसाया और बनाया जाना चाहिए, जिससे वह सम्पूर्ण निरोग हो सके। उसके झोंपड़ों और मकानों में काफी प्रकाश और वायु आ-जा सके। उसके झोंपड़े ऐसी चीजों के बने हों जो पाँच मील की सीमा के अन्दर उपलब्ध हो सकती हैं। हर मकान के आसपास या आगे-पीछे इतना बड़ा आँगन हो, जिसमें गृहस्थ अपने लिए साग-भाजी लगा सकें और अपने पशुओं को रख सकें। गाँव की गलियों और रास्तों पर जहाँ तक हो सके धूल न हो। अपनी जरूरत के अनुसार गाँव में कुएँ हों, जिनसे गाँव के सब लोग पानी भर सकें। सबके लिए प्रार्थना-घर या मन्दिर हों, सार्वजनिक सभा वगैरा के लिए एक अलग स्थान हो, गाँव की अपनी गोचर-भूमि हो, सहकारी ढंग की एक गोशाला हो, ऐसी प्राथमिक और अपनी माध्यमिक शालाएँ हों, जिनमें उद्योग की शिक्षा सर्वप्रधान वस्तु हो और गाँव के अपने मामलों का निपटारा करने के लिए एक ग्राम-पंचायत भी हो। अपनी जरूरतों के लिए अनाज, साग-भाजी, फल, खादी वगैरा खुद गाँव में ही पैदा हों। एक आदर्श गाँव की मेरी अपनी यह कल्पना है। मौजूदा परिस्थिति में उसके मकान ज्यों-के-त्यों रहेंगे, सिर्फ यहाँ-वहाँ थोड़ा-सा सुधार कर देना काफी होगा। अगर गाँव के लोगों में सहयोग और प्रेमभाव हो, तो बगैर सरकारी सहायता के खुद ग्रामीण ही अपने बल पर लगभग ये सारी बातें कर सकते हैं। हाँ, सिर्फ नये सिरे से मकानों को बनाने की बात छोड़ दीजिए। और अगर सरकारी सहायता भी मिल जाय, तब तो ग्रामों की इस तरह पुनर्रचना हो सकती है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं। पर अभी तो मैं यही सोच रहा हूँ कि खुद ग्रामनिवासी अपने बल पर परस्पर सहयोग के साथ और सारे गाँव के भले के लिए हिल-मिलकर मेहनत करें, तो वे क्या-क्या कर सकते हैं। मुझे तो यह निश्चय हो गया कि अगर उन्हें उचित सलाह और मार्गदर्शन मिलता

रहे, तो गाँव की—मैं व्यक्तियों की बात नहीं करता—आय बराबर दूनी हो सकती है। व्यापारिक दृष्टि से काम में आने लायक साधन-सामग्री हर गाँव में भले ही न हो, पर स्थानीय उपयोग और लाभ के लिए तो लगभग हर गाँव में है।[२८]

चिकित्सा

मेरी राय में जिस जगह शरीर-सफाई, घर-सफाई और ग्राम-सफाई हो तथा युक्ताहार और योग्य व्यायाम हो, वहाँ बीमारी कम-से-कम होती है। और अगर चित्तशुद्धि हो भी, तो कहा जा सकता है कि बीमारी असम्भव हो जाती है। राम-नाम के बिना चित्तशुद्धि नहीं हो सकती। अगर देहातवाले इतनी बात समझ जायँ, तो वैद्य, हकीम या डॉक्टर की जरूरत न रह जाय।[२९]

अगर हम सफाई के नियम जानें, उनका पालन करें और सही खुराक लें, तो हम खुद अपने डॉक्टर बन जायँ। जो आदमी जीने के लिए खाता है, जो पाँच महाभूतों का यानी मिट्टी, पानी, आकाश, सूरज और हवा का दोस्त बनकर रहता है, जो उनको बनानेवाले ईश्वर का दास बनकर जीता है, वह कभी बीमार न पड़ेगा। पड़ा भी तो ईश्वर के भरोसे रहता हुआ शान्ति से मर जायेगा। वह अपने गाँव के मैदानों या खेतों में मिलनेवाली जड़ी-बूटी या औषधि लेकर ही सन्तोष मानेगा। डॉक्टर लोग कहते हैं कि १०० में से ९९ रोग गन्दगी से, न खाने जैसा खाने से और खाने लायक चीजों के न मिलने से होते हैं। अगर हम इन ९९ लोगों को जीने की कला सिखा दें, तो बाकी एक की चिन्ता हमें करने की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए कोई परोपकारी डॉक्टर मिल जायेगा। हम उसकी फिकर न करें। आज हमें न तो अच्छा पानी मिलता है, न अच्छी मिट्टी और न साफ हवा ही मिलती है। हम सूरज से छिप-छिपकर रहते हैं। अगर हम इन सब बातों को सोचें और सही

खुराक सही तरीके से लें, तो समझिए कि हमने पीढ़ियों का काम कर लिया। इसका ज्ञान पाने के लिए न तो हमें कोई डिग्री चाहिए, और न करोड़ों रुपये। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि हममें ईश्वर पर श्रद्धा हो, सेवा की लगन हो, पाँच महाभूतों का कुछ परिचय हो, और कॉलेज की शिक्षा के बनिस्बत कुछ ही थोड़ी मेहनत से और थोड़े समय में हासिल कर सकते हैं।[३०]

जाने-अनजाने कुदरत के कानून को तोड़ने से ही बीमारी पैदा होती है। इसलिए उसका इलाज भी यही हो सकता है कि बीमार फिर कुदरत के कानूनों पर अमल करना शुरू कर दे। जिस आदमी ने कुदरत के कानून को हद से ज्यादा तोड़ा है, उसे तो कुदरत की सजा भोगनी ही पड़ेगी, या फिर उससे बचने के लिए अपनी जरूरत के मुताबिक डॉक्टरों या सर्जनों की मदद लेनी पड़ेगी। वाजिब सजा को सोच-समझ कर चुपचाप सह लेने से मन की ताकत बढ़ती है, मगर उसे टालने की कोशिश करने से मन कमजोर बनता है।[३४]

मैं यह जानना चाहूँगा कि ये डॉक्टर और वैज्ञानिक लोग (आखिर) देश के लिए कर क्या रहे हैं? वे हमेशा खास-खास बीमारियों के इलाज के नये-नये तरीके सीखने के लिए विदेशों को जाने के लिए तैयार दिखायी देते हैं। मेरी सलाह है कि वे हिन्दुस्तान के ७ लाख गाँवों की तरफ ध्यान दें। ऐसा करने पर उन्हें जल्दी ही मालूम हो जायेगा कि डॉक्टर की डिग्रियाँ लिये हुए सारे मर्द और औरतों की, पश्चिमी नहीं बल्कि पूर्वी ढंग पर, ग्रामसेवा के काम में जरूरत है। तब वे इलाज के बहुत से देशी तरीकों को अपना लेंगे। जब हिन्दुस्तान के गाँवों में ही कई तरह की जड़ी-बूटियों का अटूट भण्डार मौजूद है, तब उसे पश्चिमी देशों से दवाइयाँ मँगाने की कोई जरूरत नहीं। लेकिन दवाइयों से भी ज्यादा इन डॉक्टरों को (चाहिए कि वे) जीने का सही तरीका गाँववालों को सिखायें।[३२]

नगरपालिकाएँ और शहर-सफाई

पश्चिम से हम एक चीज जरूर सीख सकते हैं और वह हमें सीखनी ही चाहिए—शहरों की सफाई का शास्त्र। पश्चिम के लोगों ने सामुदायिक आरोग्य और सफाई का एक शास्त्र ही तैयार कर लिया है, जिससे हमें बहुत-कुछ सीखना है। बेशक, सफाई की पश्चिम की पद्धतियों को हम अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बदल सकते हैं।

भगवत्प्रेम के बाद महत्त्व की दृष्टि से दूसरा स्थान स्वच्छता के प्रेम का ही है। जिस तरह हमारा मन मलिन हो तो हम भगवान् का प्रेम सम्पादित नहीं कर सकते, उसी तरह हमारा शरीर मलिन हो तो भी हम उसका आशीर्वाद नहीं पा सकते। और शहर अस्वच्छ हो तो शरीर का स्वच्छ रहना सम्भव नहीं है।

कोई भी म्युनिसिपैलिटी शहर की अस्वच्छता और आबादी की सघनता का सवाल महज टैक्स वसूल करके और सफाई का काम करनेवाले नौकरों को रखकर हल करने की आशा नहीं कर सकती। यह जरूरी सुधार तो अमीर और गरीब, सब लोगों के सम्पूर्ण और स्वेच्छापूर्ण सहयोग द्वारा ही शक्य है।[३५]

गाँव में तो हम कई बातें किसी किस्म का खतरा उठाये बिना कर सकते हैं। लेकिन शहरों की घनी आबादीवाली तंग गलियों में, जहाँ साँस लेने के लिए साफ हवा भी मुश्किल से मिलती है, हम ऐसा नहीं करते। वहाँ का जीवन दूसरे प्रकार का है और वहाँ हमें सफाई के ज्यादा बारीक नियमों का पालन करना चाहिए। क्या हम ऐसा करते हैं? भारत के हरएक शहर के मध्यवर्ती भागों में सफाई की जो दयनीय स्थिति दिखायी देती है, उसकी जिम्मेदारी हम म्युनिसिपैलिटी पर नहीं डाल सकते। और मेरा खयाल है कि दुनिया की कोई भी म्युनिसिपैलिटी लोगों के अमुक वर्ग की उन आदतों का प्रतिकार नहीं कर सकती जो उन्हें पीढ़ियों की परम्परा से मिली है।...इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि अगर हम अपनी म्युनिसिपैलिटी से यह उम्मीद करते हों कि इन बड़े

शहरों में जो सफाई सम्बन्धी सुधार का सवाल पेश है उसे वे इस स्वेच्छापूर्ण सहयोग की मदद के बिना ही हल कर लेंगी तो यह अशक्य है। अलबत्ता, मेरा मतलब यह बिलकुल नहीं है कि म्युनिसिपैलिटी की इस सम्बन्ध में कोई जिम्मेवारी नहीं है।[३६]

मुझे म्युनिसिपैलिटी की प्रवृत्तियों में बहुत दिलचस्पी है। म्युनिसिपैलिटी का सदस्य होना सचमुच बड़ा सौभाग्य है। लेकिन सार्वजनिक जीवन का अनुभव रखनेवाले व्यक्ति के नाते मैं आपसे यह भी कह दूँ कि इस सौभाग्यपूर्ण अधिकार के उचित निर्वाह की एक अनिवार्य शर्त यह है कि इन सदस्यों को इस पद से कोई निजी स्वार्थ साधने की इच्छा न रखनी चाहिए। उन्हें अपना कार्य सेवाभाव से ही करना चाहिए। तभी उसकी पवित्रता कायम रहेगी। उन्हें अपने को शहर की सफाई का काम करनेवाले भंगी कहने में गौरव का अनुभव करना चाहिए। मेरी मातृभाषा* में म्युनिसिपैलिटी का एक सार्थक नाम है। लोग उसे 'कचरा-पट्टी' कहते हैं, जिसका मतलब है भंगियों का विभाग। सचमुच म्युनिसिपैलिटी को सफाई का काम करनेवाली एक प्रमुख संस्था होना ही चाहिए और उसमें न सिर्फ शहर की बाहरी सफाई का, बल्कि सामाजिक और सार्वजनिक जीवन की भीतरी सफाई का भी समावेश होना चाहिए।[३७]

...जो लोकल बोर्डों या म्युनिसिपैलिटियों में प्रतिनिधियों की हैसियत से जाते हैं, वे वहाँ प्रतिष्ठा के लालच से या आपस में लड़ने-झगड़ने के लिए नहीं जाते, बल्कि नागरिकों की प्रेमपूर्ण सेवा करने के लिए जाते हैं। यह सेवा पैसे पर आधार नहीं रखती। हमारा देश गरीब है। अगर म्युनिसिपैलिटियों में जानेवाले सदस्यों में सेवा की भावना हो, तो वे अवैतनिक मेहतर, भंगी और सड़कें बनानेवाले बन जायेंगे और उसमें गौरव का अनुभव करेंगे। वे दूसरे को अपने काम में शरीक होने का न्योता देंगे और अपने में और अपने कार्य में उन्हें श्रद्धा होगी, तो उनके उदाहरण का दूसरों पर अवश्य ही अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।[३८]

* गुजराती

११. शिक्षा

अन्य देशों के बारे में कुछ भी सही हो, कम-से-कम भारत में तो—जहाँ अस्सी फीसदी आबादी खेती करनेवाली है और दूसरी दस फीसदी उद्योग में काम करनेवाली है—शिक्षा को निरी साहित्यिक बना देना तथा लड़कों और लड़कियों को उत्तर-जीवन में हाथ के काम के लिए अयोग्य बना देना गुनाह है।...चूँकि हमारा अधिकांश समय अपनी रोजी कमाने में लगता है, इसलिए हमारे बच्चों को बचपन से ही इस प्रकार के परिश्रम का गौरव सिखाना चाहिए। हमारे बालकों की पढ़ाई ऐसी नहीं होनी चाहिए, जिससे वे मेहनत का तिरस्कार करने लगें। कोई कारण नहीं कि क्यों एक किसान का बेटा किसी एक स्कूल में जाने के बाद खेती के मजदूर के रूप में आजकल की तरह निकम्मा बन जाय। यह अफसोस की बात है कि हमारी पाठशालाओं के लड़के शारीरिक श्रम को तिरस्कार की दृष्टि से चाहे न देखते हों, पर नापसन्दगी की नजर से तो जरूर देखते हैं।[१]

मैं भारत के लिए निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धान्त में दृढ़तापूर्वक मानता हूँ। मैं यह भी मानता हूँ कि इस लक्ष्य को पाने का सिर्फ यही एक रास्ता है कि हम बच्चों को कोई उपयोगी उद्योग सिखायें और उसके द्वारा उनकी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास सिद्ध करें। ऐसा किया जाय तो हमारे गाँव के लगातार बढ़ रहे नाश की प्रक्रिया रुकेगी और ऐसी न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था की नींव पड़ेगी जिसमें अमीरों और गरीबों के अस्वाभाविक विभेद की गुंजाइश नहीं होगी और हरएक को जीवन-मजदूरी और स्वतंत्रता के अधिकारों का आश्वासन दिया जा सकेगा।[२]

मेरी राय में तो इस देश में, जहाँ लाखों आदमी भूखों मरते हैं, बुद्धिपूर्वक किया जानेवाला श्रम ही सच्ची प्राथमिक शिक्षा या प्रौढ़शिक्षा

है।...अक्षर-ज्ञान हाथ की शिक्षा के बाद आना चाहिए, हाथ से काम करने की क्षमता—हस्त-कौशल ही तो वह चीज है, जो मनुष्य को पशुओं से अलग करती है। लिखना, पढ़ना जाने बिना मनुष्य का सम्पूर्ण विकास नहीं हो सकता, ऐसा मानना एक वहम ही है। इसमें शक नहीं कि अक्षर-ज्ञान से जीवन का सौन्दर्य बढ़ जाता है, लेकिन यह बात गलत है कि उसके बिना मनुष्य का नैतिक, शारीरिक और आर्थिक विकास हो ही नहीं सकता।[3]

मेरा मत है कि बुद्धि की सच्ची शिक्षा हाथ, पैर, आँख, कान, नाक आदि शरीर के अंगों के ठीक अभ्यास और शिक्षण से ही हो सकती है। दूसरे शब्दों-में, इन्द्रियों के बुद्धिपूर्वक उपयोग से बालक की बुद्धि के विकास का उत्तम और शीघ्रतम मार्ग मिलता है। परन्तु जब तक मस्तिष्क और शरीर का विकास साथ-साथ न हो और उसी प्रमाण में आत्मा की जाग्रति न होती रहे, तब तक केवल बुद्धि के एकांगी विकास से कुछ विशेष लाभ नहीं होगा। आध्यात्मिक शिक्षा से मेरा आशय हृदय की तालीम से है। इसलिए मस्तिष्क का ठीक और चतुर्मुखी विकास तभी हो सकता है, जब वह बच्चे की शारीरिक और आध्यात्मिक शक्तियों की तालीम के साथ-साथ होता हो। ये सब बातें एक और अविभाज्य हैं। इसलिए इस सिद्धान्त के अनुसार यह मान बैठना बिलकुल गलत होगा कि उनका विकास टुकड़े करके या एक-दूसरे से स्वतंत्र रूप में किया जा सकता है।

...शरीर, मन और आत्मा की विविध शक्तियों में ठीक-ठीक सहकार और सुमेल न होने के दुष्परिणाम स्पष्ट हैं। वे हमारे चारों ओर विद्यमान हैं, इतना ही है कि वर्तमान विकृत संस्कारों के कारण वे हमें दिखायी नहीं देते हैं।

...मनुष्य न तो कोरी बुद्धि है, न स्थूल शरीर है और न केवल हृदय या आत्मा ही है। सम्पूर्ण मनुष्य के निर्माण के लिए तीनों के उचित और एकरस मेल की जरूरत है और यही शिक्षा की सच्ची व्यवस्था है।[4]

बुनियादी तालीम

शिक्षा की मेरी योजना में हाथ-अक्षर लिखना सीखने के पहले औजार चलाना सीखेंगे। आँखें जिस तरह दूसरी चीजों को तसवीरों के रूप में देखती और उन्हें पहचानना सीखती हैं, उसी तरह वे अक्षरों और शब्दों को तसवीरों की तरह देखकर उन्हें पढ़ना सीखेंगी और कान चीजों के नाम और वाक्यों का आशय पकड़ना सीखेंगे। गरज यह कि सारी तालीम स्वाभाविक होगी। बालकों पर वह लादी नहीं जायेगी, बल्कि वे उसमें स्वतः दिलचस्पी लेंगे। और इसलिए यह तालीम दुनिया की दूसरी तमाम शिक्षा-पद्धतियों से जल्दी फल देनेवाली और सस्ती होगी।[5]

हाथ का काम इस सारी योजना का केन्द्रबिन्दु होगा। हाथ की तालीम का मतलब यह नहीं होगा कि विद्यार्थी पाठशाला के संग्रहालय में रखने लायक वस्तुएँ या ऐसे खिलौने बनायें जिनका कोई मूल्य नहीं। उन्हें ऐसी वस्तुएँ बनाना चाहिए, जो बाजार में बेची जा सकें। कारखानों के प्रारम्भिक काल में जिस तरह बच्चे मार के भय से काम करते थे, उस तरह हमारे बच्चे यह काम नहीं करेंगे। वे उसे इसलिए करेंगे कि इससे उन्हें आनन्द मिलता है और उनकी बुद्धि को स्फूर्ति मिलती है।[6]

हमारे यहाँ जिसे प्राथमिक शिक्षा कहा जाता है, वह तो एक मजाक है, उसमें गाँवों में बसनेवाले हिन्दुस्तान की जरूरतों और माँगों का जरा भी विचार नहीं किया गया है, और वैसे देखा जाय तो उसमें शहरों का भी कोई विचार नहीं हुआ है। (ऊपर बतायी हुई) बुनियादी तालीम हिन्दुस्तान के तमाम बच्चों को, फिर वे गाँवों के रहनेवाले हों या शहरों के हिन्दुस्तान के सभी श्रेष्ठ और स्थायी तत्त्वों के साथ जोड़ देती है। यह तालीम बालक के मन और शरीर दोनों का विकास करती है, बालक को अपने वतन के साथ जोड़े रखती है। उसे अपने और देश के भविष्य का गौरवपूर्ण चित्र दिखाती है, और उस चित्र में देखे हुए भविष्य के

हिन्दुस्तान का निर्माण करने में बालक या बालिका अपने स्कूल जाने के दिन से ही हाथ उठाने लगें, इसका इन्तजाम करती है।[७]

बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य दस्तकारी के माध्यम से बालकों का शरीरिक, बौद्धिक और नैतिक विकास करना है। लेकिन मैं मानता हूँ कि कोई भी पद्धति, जो शैक्षणिक दृष्टि से सही हो और जो अच्छी तरह चलायी जाय, आर्थिक दृष्टि से भी उपयुक्त सिद्ध होगी। उदाहरण के लिए, हम अपने बच्चों को मिट्टी के खिलौने बनाना भी सिखा सकते है, जो बाद में तोड़कर फेंक दिये जाते हैं। इससे भी उनकी बुद्धि का विकास तो होगा। लेकिन इसमें इस महत्त्वपूर्ण नैतिक सिद्धान्त की उपेक्षा होती है कि मनुष्य के श्रम और साधन-सामग्री का अपव्यय कदापि न होना चाहिए। उनका अनुत्पादक उपयोग भी कभी नहीं करना चाहिए। अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग ही होना चाहिए, इस सिद्धान्त के पालन का आग्रह नागरिकता के गुण का विकास करनेवाली सर्वोत्तम शिक्षा है, साथ ही इससे बुनियादी तालीम स्वावलम्बी भी बनती है।[८]

हमारे जैसे गरीब देश में हाथ की तालीम जारी करने से दो हेतु सिद्ध होंगे। उससे हमारे बालकों की शिक्षा का खर्च निकल आयेगा और वे ऐसा धन्धा सीख लेंगे, जिसका अगर वे चाहें तो उत्तर-जीवन में अपनी जीविका के लिए सहारा ले सकते हैं। इस पद्धति से हमारे बालक आत्मनिर्भर अवश्य हो जायेंगे। राष्ट्र को कोई चीज इतनी कमजोर नहीं बनायेगी, जितनी यह बात कि हम श्रम का तिरस्कार करना सीखें।[९]

उच्च शिक्षा

मैं कॉलेज की शिक्षा में कायापलट करके उसे राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल बनाऊँगा। यंत्रविद्या तथा अन्य इंजीनियरों के लिए डिग्रियाँ होंगी। वे भिन्न-भिन्न उद्योगों के साथ जोड़ दिये जायेंगे और उन उद्योगों को जिन स्नातकों की जरूरत होगी, उसके प्रशिक्षण का खर्च वे उद्योग ही देंगे। इस प्रकार टाटावालों से आशा की जायेगी कि वे राज्यों की

देखरेख में इंजीनियरों को तालीम देने के लिए एक कॉलेज चलायें। इसी तरह मिलों के संघ अपनी जरूरतों के स्नातकों को तालीम देने के लिए अपना कॉलेज चलायेंगे।

इसी तरह और उद्योगों के नाम लिये जा सकते हैं। वाणिज्य-व्यवसायवालों का अपना कॉलेज होगा। अब रह जाते हैं कला, औषधि और खेती। कई खानगी कला-कौशल आज भी स्वावलम्बी हैं। इसलिए राज्य ऐसे कॉलेज चलाना बन्द कर देगा। डॉक्टरी के कॉलेज प्रामाणिक अस्पतालों के साथ जोड़ दिये जायेंगे। चूँकि ये धनवानों में लोकप्रिय हैं, इसलिए उनसे आशा रखी जाती है कि वे स्वेच्छा से दान देकर डॉक्टरी के कॉलेजों को चलायेंगे। और कृषि-कॉलेज तो अपने नाम को सार्थक करने के लिए स्वावलम्बी होने ही चाहिए। मुझे कुछ कृषि-स्नातकों का दुखद अनुभव है। उनका ज्ञान ऊपरी होता है। उनमें व्यावहारिक अनुभव की कमी होती है। परन्तु यदि वे देश की जरूरतों के अनुसार चलनेवाले और स्वावलम्बी खेतों पर तालीम लें, तो उन्हें अपनी डिग्रियाँ लेने के बाद फिर अपने मालिकों के खर्च पर तजुरबा हासिल नहीं करना पड़ेगा।[१०]

यह सुझाव अकसर दिया गया है कि यदि शिक्षा अनिवार्य करनी हो या शिक्षा-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले सब लड़के-लड़कियों के लिए उसे सुलभ बनाना हो, तो हमारे स्कूल और कॉलेज पूरे नहीं तो करीब-करीब स्वावलम्बी हो जाने चाहिए। दान, राजकीय सहायता अथवा विद्यार्थियों से ली जानेवाली फीस द्वारा भी उन्हें स्वावलम्बी बनाया जा सकता है, लेकिन यहाँ वैसा स्वावलम्बन इष्ट नहीं है। विद्यार्थियों को खुद कुछ ऐसा काम करते रहना चाहिए, जिससे आर्थिक प्राप्ति हो और इस तरह स्कूल तथा कॉलेज स्वावलम्बी बनें। औद्योगिक तालीम को अनिवार्य बनाकर ही ऐसा किया जा सकता है। विद्यार्थियों को साहित्यिक तालीम के साथ-साथ औद्योगिक तालीम भी मिलनी

चाहिए, इस आवश्यकता के सिवा—और आजकल इस बात का महत्त्व अधिकाधिक स्वीकार किया जा रहा है—हमारे देश में तो औद्योगिक तालीम की आवश्यकता शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने के लिए भी है। लेकिन यह तभी हो सकता है कि जब हमारे विद्यार्थी श्रम का गौरव अनुभव करना सीखें और हाथ-उद्योग के अज्ञान को अप्रतिष्ठा का चिह्न माना जाने लगे। अमेरिका में, जो कि दुनिया का सबसे धनी देश है और इसलिए जहाँ शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने की आवश्यकता कम-से-कम है, विद्यार्थी प्राय: अपनी पढ़ाई का पूरा अथवा आंशिक खर्च खुद कोई उद्योग करके निकालते हैं।...अगर अमेरिका अपने स्कूल और कॉलेज इस तरह चलाता है कि विद्यार्थी अपनी पढ़ाई का खर्च खुद निकाल लिया करें, तो हमारे स्कूलों और कॉलेजों में तो इस बात की आवश्यकता और अधिक मानी जानी चाहिए। हम गरीब विद्यार्थियों को फीस की माफी आदि की सुविधा दें। उससे क्या यह ज्यादा अच्छा नहीं होगा कि हम उनके लिए ऐसा कोई काम दें जिसे करके वे अपना खर्च खुद निकाल लें? भारतीय युवकों के मन में यह वहम भरकर कि अपनी जीविका अथवा पढ़ाई का खर्च कमाने के लिए हाथ-पाँवों की मेहनत करना भद्रोचित नहीं है, हम उनका अपार अहित करते हैं। यह अहित नैतिक भी है और भौतिक भी है, तथा भौतिक की अपेक्षा नैतिक ज्यादा है। फीस आदि की माफी धर्मबुद्धि रखनेवाले विद्यार्थी के मन पर आजीवन बोझ की तरह पड़ी रहती है, और ऐसा होना भी चाहिए। अपने उत्तर-जीवन में कोई इस बात का स्मरण कराना पसन्द नहीं करता कि उसे अपनी शिक्षा के लिए दान का आधार लेना पड़ा था। लेकिन यदि उसने अपनी शिक्षा के लिए परिश्रमपूर्वक उद्योग किया हो और इस तरह अपनी पढ़ाई का खर्च निकालने के साथ-साथ अपनी बुद्धि, शरीर और आत्मा का विकास भी सिद्ध किया हो, तो ऐसा कौन है जो अपने उन दिनों को गर्व से याद न करेगा?...

विश्वविद्यालय

राज्य के विश्वविद्यालय खालिस परीक्षा लेनेवाली संस्थाएँ रहें और वे अपना खर्च परीक्षा-शुल्क से ही निकाल लिया करें।

विश्वविद्यालय शिक्षा के सारे क्षेत्र की देखरेख रखेंगे और शिक्षा के विभिन्न विभागों के पाठ्यक्रम तैयार करके उन्हें मंजूरी देंगे। कोई खानगी स्कूल अपने-अपने विश्वविद्यालयों से पूर्व-स्वीकृति लिये बिना नहीं चलाये जाने चाहिए। विश्वविद्यालय के स्वीकृति-पत्र प्रमाणित योग्यतावाले और प्रामाणिक व्यक्तियों की क़िसी भी संस्था को उदारतापूर्वक दिये जाने चाहिए। और हमेशा यह समझ कर चलाया जायेगा कि विश्वविद्यालयों का राज्य पर कोई खर्च नहीं पड़ेगा। उसे सिर्फ एक केन्द्रीय शिक्षा-विभाग का खर्च ही उठाना होगा।[१२]

विश्वविद्यालयों को स्वावलम्बी जरूर बनाना चाहिए। राज्य को सामान्यत: उन्हीं लोगों को शिक्षा देनी चाहिए, जिनकी सेवाओं की उसे आवश्यकता हो। शिक्षा की अन्य सब शाखाओं के लिए उसे निजी प्रयत्न को ही प्रोत्साहन देना चाहिए। शिक्षा का माध्यम तो एकदम और हर हालत में बदल दिया जाना चाहिए। और प्रान्तीय भाषाओं को उनका उचित स्थान मिलना चाहिए। आज प्रतिदिन पैसे की जो भयंकर बरबादी बढ़ती जा रही है, उसके बजाय तो उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कुछ समय के लिए मैं अव्यवस्था को भी अधिक पसन्द करूँगा।...

मैं उच्च शिक्षा का विरोधी नहीं हूँ। लेकिन उस शिक्षा का मैं जरूर विरोधी हूँ, जो कि आज इस देश में दी जा रही है। मेरी योजना में आज के अधिक संख्या में और अधिक अच्छे पुस्तकालय होंगे, अधिक संख्या में और अधिक अच्छी प्रयोगशालाएँ होंगी तथा अधिक संख्या में और अधिक अच्छी अनुसंधानशालाएँ होंगी। मेरी योजना में हमारे पास ऐसे रसायनशास्त्रियों, इंजीनियरों तथा अन्य विषयों के विशेषज्ञों की एक बड़ी फौज होगी, जो राष्ट्र के सच्चे सेवक होंगे और उस जनता की

दिनोंदिन बढ़नेवाली विविध प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेंगे, जो अपने अधिकारों तथा आवश्यकताओं के बारे में अधिकाधिक जाग्रत बनती जा रही है। और ये सब विशेषज्ञ अंग्रेजी भाषा नहीं बोलेंगे, बल्कि लोगों की भाषा बोलेंगे। वे लोग जो ज्ञान प्राप्त करेंगे वह सब लोगों की सामूहिक सम्पत्ति होगा। उस स्थिति में केवल नकल के बजाय सचमुच मौलिक काम होगा। और उसका खर्च समान रूप से और न्यायपूर्वक बाँटा जायेगा।[13]

मेरी राय में विश्वविद्यालयों की स्थापना के लिए रुपया जुटाना लोकतांत्रिक राज्य का काम नहीं है। लोगों को उनकी जरूरत होगी तो वे आवश्यक पैसा खुद जुटा लेंगे। इस प्रकार स्थापित विश्वविद्यालय देश के भूषण होंगे। जहाँ शासन विदेशियों के हाथों में होता है, वहाँ लोगों को जो कुछ मिलता है वह सब ऊपर से आता है और इस प्रकार अधिकाधिक पराधीन हो जाते हैं। जहाँ उसका आधार जनता की इच्छा पर होती है और इसलिए व्यापक होता है, वहाँ हर चीज नीचे से उठती है और इसलिए टिकती है। वह दिखने में भी अच्छी होती है और लोगों को शक्ति देती है। ऐसी लोकतांत्रिक योजना में विद्या-प्रचार में लगाया हुआ रुपया लोगों को दसगुना लाभ पहुँचाता है, जैसे अच्छी जमीन में बोया हुआ बीज बढ़िया फसल देता है। विदेशी प्रभुता के अधीन कायम किये गये विश्वविद्यालय उलटी दिशा में चले हैं। शायद दूसरा कोई परिणाम हो भी नहीं सकता था। इसलिए जब तक भारतवर्ष अपनी नवप्राप्त स्वतंत्रता को पचा न ले, तब तक विश्वविद्यालय कायम करने के बारे में हर दृष्टि से सावधान रहना चाहिए।[14]

स्त्री-शिक्षा

स्त्रियों की विशेष शिक्षा कैसी हो और कहाँ से शुरू हो, इसके विषय में मैं खुद निश्चय नहीं कर सका हूँ। लेकिन यह मेरा दृढ़ मत है कि जितनी सुविधा पुरुष को मिलती है, उतनी ही स्त्री को भी मिलनी

चाहिए और जहाँ विशेष सुविधा की जरूरत हो वहाँ विशेष सुविधा भी मिलनी चाहिए।

आजीवन शिक्षा

सच्ची शिक्षा तो स्कूल छोड़ने के बाद शुरू होती है। जिसने उसका महत्त्व समझा है, वह सदा ही विद्यार्थी है। अपना कर्तव्य-पालन करते हुए उसे अपना ज्ञान रोज बढ़ाना चाहिए। जो सब काम समझकर करता है, उसका ज्ञान रोज बढ़ता है।

शिक्षा की प्रगति में एक चीज रुकावट डालती है। शिक्षक के बिना शिक्षा ली ही नहीं जा सकती, यह वहम समाज की वृद्धि को रोक रहा है। मनुष्य का सच्चा शिक्षक वह खुद ही है। आजकल तो अपने-आप शिक्षा प्राप्त करने के साधन खूब बढ़ गये हैं। बहुत-सी बातों का ज्ञान लगन से हरएक को मिल सकता है और जहाँ शिक्षक की ही जरूरत होती है, वहाँ वह खुद शिक्षक ढूँढ़ लेता है। अनुभव बड़े-से-बड़े स्कूल हैं। कई धन्धे ऐसे हैं जो स्कूल में नहीं सीखे जा सकते, बल्कि उन धन्धों की दुकानों पर या कारखानों में ही सीखे जा सकते हैं। उनका स्कूल में पाया हुआ ज्ञान अकसर तोते का-सा होता है इसलिए बड़ी उम्रवालों के लिए स्कूल बजाय इच्छा की, लगन की और आत्म-विश्वास की जरूरत है।

बच्चों की शिक्षा माँ-बाप का धर्म है। ऐसा सोचें तो हमें बेशुमार पाठशालाओं की अपेक्षा सच्ची शिक्षा का वायुमण्डल तैयार करने की ज्यादा जरूरत है। वह पैदा हुआ, फिर तो जहाँ पाठशाला चाहिए, वहाँ वह जरूर खड़ी हो जायेगी।[१५]

प्रौढ़-शिक्षा

जन-साधारण में फैली हुई व्यापक निरक्षरता भारत का कलंक है। वह मिटना ही चाहिए। बेशक, साक्षरता की मुहिम का आरम्भ और

अन्त वर्णमाला के ज्ञान के साथ ही नहीं हो जाना चाहिए। वह उपयोगी ज्ञान के प्रचार के साथ-साथ चलनी चाहिए। लिखने-पढ़ने और अंकगणित का शुष्क ज्ञान देहातियों के जीवन का स्थायी अंग न आज है और न कभी हो सकता है। उन्हें ऐसा ज्ञान देना चाहिए, जिसका उन्हें रोज उपयोग करना पड़े। वह उन पर थोपा नहीं जाना चाहिए। उसकी उन्हें भूख होनी चाहिए। आजकल उन्हें जो कुछ मिलता है वह ऐसा है, जिसकी न तो उन्हें आवश्यकता है और न कदर है। ग्रामवासियों को गाँव का गणित, गाँव का भूगोल, गाँव का इतिहास और साहित्य का वह ज्ञान सिखाइए जिसे उन्हें रोज काम में लाना पड़े, अर्थात् चिट्ठी-पत्री लिखना और पढ़ना सिखाइए। वे इस ज्ञान को जुटाकर रखेंगे और आगे की मंजिलों की तरफ बढ़ेंगे। जिन पुस्तकों से उन्हें दैनिक उपयोग की कोई सामाग्री नहीं मिलती, वे उनके लिए किसी काम की नहीं।[१६]

धार्मिक शिक्षण

इसमें कोई शक नहीं कि सरकारी स्कूल-कॉलेजों से निकले हुए अधिकतर लड़के धार्मिक शिक्षण से कोरे ही होते हैं।...मैं जानता हूँ कि इस विचारवाले लोग भी हैं कि सार्वजनिक स्कूलों में सिर्फ अपने-अपने विषयों की ही शिक्षा देना चाहिए। मैं यह भी जानता हूँ कि हिन्दुस्तान जैसे देश में, जहाँ पर संसार के अधिकतर धर्मों के अनुयायी मिलते हैं और जहाँ एक ही धर्म के इतने भेद और उपभेद हैं, धार्मिक शिक्षण का प्रबन्ध करना कठिन होगा। लेकिन अगर हिन्दुस्तान की आध्यात्मिकता का दिवाला नहीं निकालना है तो उसे धार्मिक शिक्षा को भी विषयों के शिक्षण का बराबर ही महत्त्व देना पड़ेगा। यह सच है कि धार्मिक पुस्तकों के ज्ञान की तुलना धर्म से नहीं की जा सकती। मगर जब हमें धर्म नहीं मिल सकता तो हमें अपने लड़कों को उससे दूसरे नम्बर की वस्तु देने में ही सन्तोष मानना पड़ेगा।[१७]

अध्यापक

अध्यापक कैसे हों इस सम्बन्ध में मैं इस पुराने विचार का माननेवाला कि उन्हें अध्यापन, अध्यापन-कार्य के लिए अपने अनिवार्य प्रेम के कारण ही करना चाहिए और इस कार्य से अपने जीवन-निर्वाह के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही लेकर सन्तुष्ट रहना चाहिए। रोमन कैथलिकों में यह विचार अभी बचा रहा है और वे दुनिया की कुछ सर्वोत्तम संस्थाएँ चला रहे हैं। प्राचीन भारतीय ऋषियों ने तो और भी ऊँचा आदर्श स्वीकार किया था। वे विद्यार्थियों को अपने परिवार में ही शामिल कर लेते थे। लेकिन जो शिक्षा वे उन दिनों दिया करते थे वह सामान्य जनता के लिए नहीं थी। सामान्य जनता को उसकी तालीम घरों में और अपने परम्परागत उद्योग-धन्धों में मिलती थी। उन दिनों के लिए वह काफी अच्छी व्यवस्था थी। अब परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। साहित्यिक तालीम के लिए आम माँग है और यह माँग जोरदार भी है। विशिष्ट वर्गों की शिक्षा पर जैसा ध्यान दिया जाता था, सामान्य लोग भी अब अपनी शिक्षा पर वैसा ही ध्यान चाहते हैं।...लोगों में ज्ञान की इच्छा पैदा हुई है। अगर उस इच्छा को उचित दिशा में मोड़ा गया तो उससे लाभ ही होगा।...इस स्थिति का अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना चाहिए। इस काम के लिए हजारों शिक्षकों की आवश्यकता होगी और वे महज कहने से नहीं मिल जायेंगे। और न वे अपना जीवन-निर्वाह भीख माँगकर करेंगे। हमें उन्हें एक निश्चित वेतन देने की पूरी व्यवस्था करनी होगी। हमें शिक्षकों की मानो एक पूरी सेना ही लगेगी। उनके कार्य के महत्त्व और मूल्य के अनुसार उन्हें पैसा दिया जाय, यह तो अशक्य है। राष्ट्र अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार ही उन्हें यथाशक्ति देगा। अलबत्ता, यह आशा रखी जा सकती है कि ज्यों-ज्यों लोग दूसरे धन्धों के मुकाबले में इस कार्य के महत्त्व को समझेंगे, त्यों-त्यों वे उन्हें ज्यादा पैसा देने को भी तैयार होंगे। लेकिन सम्भव है उनकी आय में यह

अपेक्षित वृद्धि बहुत धीरे-धीरे हो। इसलिए ऐसे अनेक पुरुषों और स्त्रियों को आगे आना चाहिए, जो आर्थिक लाभ की परवाह न करके शुद्ध देश-सेवा के भाव से अध्यापन का धन्धा अपनायें। यदि ऐसा हो, तो राष्ट्र शिक्षक के धन्धे को छोटा नहीं समझेगा, बल्कि इन स्थायी त्यागी स्त्रियों और पुरुषों को अपना प्रेम और आदर प्रदान करेगा।[१८]

१२. शिक्षा का माध्यम

मैं देश के प्रति इसे अपना कर्तव्य मानता हूँ कि शिक्षा के सम्बन्ध में मेरे विचार सबको स्पष्ट रूप से मालूम हो जायँ और उनमें से जो योग्य मालूम हों उन्हें वे ग्रहण करें।...

मैं अपने उन निष्कर्षों को बता दूँ जिन पर मैं कई वर्षों से पहुँच चुका हूँ और जब भी कभी मौका मिला है, उन्हें अमल में लाने की मैंने कोशिश की है :-

१. दुनिया में प्राप्त हो सकनेवाली ऊँची-से-ऊँची शिक्षा का भी मैं विरोधी नहीं हूँ।
२. राज्य को जहाँ भी इस शिक्षा का निश्चित उपयोग हो, वहाँ इसका खर्च उसे उठाना चाहिए।
३. मैं राज्य के सामान्य राजस्व से किसी भी तरह की उच्च शिक्षा का खर्च चलाने के विरुद्ध हूँ।
४. मेरा यह पक्का विश्वास है कि हमारे कॉलेजों में साहित्य की जो विशाल मात्रा में तथाकथित शिक्षा दी जाती है, वह सब बिलकुल व्यर्थ है और उसका परिणाम शिक्षित वर्गों की बेकारी के रूप में हमारे कॉलेजों की चक्की में पिसने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है, उसके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को भी इस शिक्षा ने चौपट कर दिया है।

५. विदेशी भाषा के माध्यम ने, जिसके जरिए भारत में उच्च शिक्षा दी जाती है, हमारे राष्ट्र को अपार बौद्धिक और नैतिक हानि पहुँचायी है। अभी हम अपने इस जमाने के इतने पास हैं कि इस नुकसान की भयंकरता का ठीक अन्दाज नहीं लगा सकते। इसके सिवा, ऐसी शिक्षा पानेवाले हमीं लोगों को इसके शिकार और न्यायाधीश दोनों बनना है, जो लगभग असम्भव काम है।

अपना निज का अनुभव

अब मेरे लिए यह बताना आवश्यक है कि मैं इन निष्कर्षों पर क्यों पहुँचा। यह शायद मैं अपने कुछ अनुभवों के आधार पर ही उत्तम ढंग से बता सकता हूँ।

१२ वर्ष की उम्र तक मैंने जो भी शिक्षा पायी वह अपनी मातृभाषा गुजराती में पायी थी। उस समय गणित, इतिहास और भूगोल का मुझे थोड़ा-थोड़ा ज्ञान था इसके बाद मैं एक हाईस्कूल में दाखिल हुआ। इसमें भी पहले तीन साल तो मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम रही। लेकिन स्कूल-मास्टर का काम तो विद्यार्थियों के दिमाग में जबरदस्ती अंग्रेज़ी ठूँसना था। इसलिए हमारा आधे से अधिक समय अंग्रेजी सीखने और उसके मनमाने हिज्जों तथा उच्चारण पर काबू पाने में लगाया जाता था। ऐसी भाषा का पढ़ना हमारे लिए एक कष्टपूर्ण अनुभव था, जिसका उच्चारण ठीक उसी तरह नहीं होता जैसी कि वह लिखी जाती है। हिज्जों को कण्ठस्थ करना एक अजीब-सा अनुभव था लेकिन यह तो मैं प्रसंगवश कह गया, वस्तुतः मेरी दलील से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मगर पहले तीन साल तो तुलना में ठीक ही निकल गये।

जिल्लत तो चौथे साल से शुरू हुई। रेखागणित(ज्योमेट्री), अलजबरा (बीजगणित), केमिस्ट्री (रसायनशास्त्र), एस्ट्रानॉमी (ज्योतिष), हिस्ट्री (इतिहास), ज्योग्राफी (भूगोल)—हरएक विषय मातृभाषा के बजाय अंग्रेजी में ही पढ़ना था। अंग्रेज़ी का ज़ुल्म इतना अधिक था कि संस्कृत

या फारसी भी मातृभाषा द्वारा नहीं, बल्कि अंग्रेजी के माध्यम से सीखनी पड़ती थी। कक्षा में अगर कोई विद्यार्थी गुजराती बोलता, जिसे वह समझता था, तो उसे सजा दी जाती थी। अगर कोई लड़का बुरी अंग्रेजी बोलता, जिसे न तो वह पूरी तरह समझ सकता था और न शुद्ध बोल सकता था, तो भी शिक्षक को कोई आपत्ति नहीं होती थी। शिक्षक भला इस बात की फिक्र क्यों करता? क्योंकि खुद उसकी ही अंग्रेजी निर्दोष नहीं थी। इसके सिवा और हो भी क्या सकता था? क्योंकि अंग्रेजी उसके लिए भी उसी तरह विदेशी भाषा थी, जिस तरह उसके विद्यार्थियों के लिए थी। इससे बड़ी गड़बड़ होती थी। हम विद्यार्थियों को अनेक बातें कण्ठस्थ करनी पड़ती थीं, हालाँकि हम उन्हें पूरी तरह समझ नहीं पाते थे और कभी-कभी तो बिलकुल ही नहीं समझ पाते थे। शिक्षक जब हमें ज्योमेट्री (रेखागणित) समझाने के लिए बड़ा प्रयत्न करता, तब मेरा सिर घूमने लगता था। सच तो यह है कि युक्लिड (रेखागणित) की पहली पुस्तक के १३वें प्रमेय तक हम पहुँच न गये, तब तक मेरी समझ में ज्योमेट्री बिलकुल नहीं आयी। और अपने पाठकों के सामने मुझे यह मंजूर करना ही चाहिए कि मातृभाषा के अपने सारे प्रेम के बावजूद आज भी मैं यह नहीं जानता कि ज्योमेट्री, अलजबरा आदि की पारिभाषिक बातों को गुजराती में क्या कहते हैं। हाँ, यह अब मैं जरूर देखता हूँ कि जितना गणित, रेखागणित, बीजगणित, रसायनशास्त्र और ज्योतिष सीखने में मुझे चार साल लगे, उतना मैंने एक ही साल में आसानी से सीख लिया होता, अगर अंग्रेजी के बजाय मैंने उन्हें गुजराती में पढ़ा होता। उस हालत में आसानी और स्पष्टता के साथ इन विषयों को समझ लेता। गुजराती का मेरा शब्दज्ञान कहीं ज्यादा समृद्ध हो गया होता और उस ज्ञान का मैंने अपने घर में उपयोग किया होता। लेकिन इस श्रेणी के अंग्रेजी के माध्यम ने तो और मेरे कुटुम्बियों के बीच, जो कि अंग्रेजी स्कूलों में नहीं पढ़े थे, एक अगम्य खाई खड़ी कर दी थी।

मेरे पिता को कुछ पता न था कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैं अगर चाहता तो भी अपने पिता की इस बात में दिलचस्पी पैदा नहीं कर सकता था कि क्या पढ़ रहा हूँ। क्योंकि यद्यपि बुद्धि की उनमें कोई कमी नहीं थी, मगर वे अंग्रेजी नहीं जानते थे। इस प्रकार मैं अपने ही घर में बड़ी तेजी के साथ अजनबी बनता जा रहा था। निश्चय ही मैं औरों से ऊँचा आदमी बन गया था। यहाँ तक कि मेरी पोशाक भी अदृश्य रूप से अपने-आप बदलने लगी थी। लेकिन मेरा जो हाल हुआ, वह कोई असाधारण अनुभव नहीं था, बल्कि अधिकांश लोगों का यही हाल होता है।

हाईस्कूल के प्रथम तीन वर्षों में मेरे सामान्य ज्ञान में बहुत कम वृद्धि हुई। यह समय तो लड़कों को हरएक चीज अंग्रेजी के जरिए सीखने की तैयारी का था। हाईस्कूल तो अंग्रेजी की सांस्कृतिक विजय के लिए थे। मेरे हाईस्कूल के तीन सौ विद्यार्थियों ने जो ज्ञान प्राप्त किया, वह तो हमीं तक सीमित रहा, वह सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए नहीं था।

एक-दो शब्द साहित्य के बारे में भी। अंग्रेजी गद्य और पद्य की हमें कई किताबें पढ़नी पड़ी थीं। इसमें शक नहीं कि यह सब बढ़िया साहित्य था। लेकिन सर्वसाधारण की सेवा या उसके सम्पर्क में आने में उस ज्ञान का मेरे लिए कोई उपयोग नहीं हुआ है। मैं यह कहने में असमर्थ हूँ कि मैंने अंग्रेजी गद्य और पद्य न पढ़ा होता, तो मैं एक वेशकीमती खजाने से वंचित रह जाता। इसके बजाय सच तो यह है कि अगर वे सात साल मैंने गुजराती पर प्रभुत्व प्राप्त करने में लगाये होते और गणित, विज्ञान तथा संस्कृत आदि विषयों को गुजराती में पढ़ा होता तो इस तरह प्राप्त किये हुए ज्ञान में मैंने अपने अड़ोसी-पड़ोसियों को आसानी से हिस्सेदार बनाया होता। उस हालत में मैंने गुजराती साहित्य को समृद्ध किया होता और कौन कह सकता है कि अमल में उतारने

की अपनी आदत तथा देश और मातृभाषा के प्रति अपने बेहद प्रेम के कारण सर्वसाधारण की सेवा में और भी अधिक समृद्ध और अधिक महान् सहयोग न दे पाता?'

विदेशी भाषा का बोझ असह्य

विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा पाने में जो बोझ दिमाग पर पड़ता है, वह असह्य है। यह बोझ केवल हमारे ही बच्चे उठा सकते हैं, लेकिन उसकी कीमत उन्हें चुकानी ही पड़ती है। वे दूसरा बोझ उठाने के लायक नहीं रह जाते। इससे हमारे ग्रेज्युएट (स्नातक) अधिकतर निकम्मे, कमजोर, निरुत्साही, रोगी और कोरे नकलची बन जाते हैं। उनमें खोज की शक्ति, विचार करने की ताकत, साहस, धीरज, बहादुरी, निडरता आदि गुण बहुत क्षीण हो जाते हैं। इससे हम नयी योजनाएँ नहीं बना सकते। बनाते हैं तो उन्हें पूरा नहीं कर सकते। कुछ लोग, जिनमें उपर्युक्त गुण दिखायी देते हैं, वे अकाल मृत्य के शिकार हो जाते हैं। अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए हमलोग इस नुकसान का अन्दाज नहीं लगा सकते। यदि हम यह अन्दाज लगा सकें कि सामान्य लोगों पर हमने कितना कम असर डाला है, तो उसका कुछ खयाल हो सकता है।

माँ के दूध के साथ जो संस्कार मिलते हैं और जो मीठे शब्द सुनायी देते हैं, उसके और पाठशाला के बीच जो मेल होना चाहिए, वह विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा लेने से टूट जाता है। इसे तोड़नेवालों का हेतु पवित्र हो तो भी वे जनता के दुश्मन हैं। हम ऐसी शिक्षा के शिकार होकर मातृद्रोह करते हैं। विदेशी भाषा द्वारा मिलनेवाली शिक्षा की हानि यहीं नहीं रुकती। शिक्षित वर्ग और सामान्य जनता के बीच में भेद पड़ गया है। हम सामान्य जनता को नहीं पहचानते। सामान्य जनता हमें नहीं जानती। हमें तो वह साहब समझ बैठती है और हम से डरती है, वह हम पर भरोसा नहीं करती।...यह रुकावट पैदा हो जाने से राष्ट्रीय-जीवन का प्रवाह रुक गया है।

जब अंग्रेजी अपनी जगह पर चली जायेगी और मातृभाषा को अपना पद मिल जायेगा, तब हमारे मन जो अभी रूँधे हुए हैं, कैद से छूटेंगे और शिक्षित तथा सुसंस्कृत होने पर भी ताजा रहे हुए दिमाग को अंग्रेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने का बोझ भारी नहीं लगेगा। और मेरा तो यह भी विश्वास है कि उस समय सीखी हुई अंग्रेजी हमारी आज की अंग्रेजी से ज्यादा शोभा देनेवाली होगी।

जब हम मातृभाषा द्वारा शिक्षा पाने लगेंगे, तब हमारे घर के लोगों के साथ हमारा दूसरा ही सम्बन्ध रहेगा। आज हम अपनी स्त्रियों को अपनी सच्ची जीवन-सहचरी नहीं बना सकते। उन्हें हमारे कामों का बहुत कम पता होता है। हमारे माता-पिता को हमारी पढ़ाई का कुछ पता नहीं होता। यदि हम अपनी भाषा के जरिये सारा ऊँचा ज्ञान लेते हों, तो हम अपने धोबी, नाई, भंगी, सबको सहज ही शिक्षा दे सकेंगे। विलायत में हजामत कराते-कराते हम नाई से राजनीति की बातें कर सकते हैं। यहाँ तो हम अपने कुटुम्ब में भी ऐसा नहीं कर सकते। इसका कारण यह नहीं कि हमारे कुटुम्बी या नाई अज्ञानी हैं। उस अंग्रेज नाई के बराबर ज्ञानी तो ये भी हैं। इनके साथ हम महाभारत, रामायण और तीर्थों की बातें करते हैं, क्योंकि जनता को इसी दिशा की शिक्षा मिलती है। परन्तु स्कूल की शिक्षा घर तक नहीं पहुँच सकती, क्योंकि अंग्रेजी में सीखा हुआ हम अपने कुटुम्बियों को नहीं समझा सकते।

आजकल हमारी धारासभाओं का सारा कामकाज अंग्रेजी में होता है। बहुत से क्षेत्रों में यही हाल हो रहा है। इससे विद्या-धन कंजूस की दौलत की तरह गड़ा हुआ पड़ा रहता है।...अंग्रेजी भाषा पढ़ने के बोझ से कुचले हुए लोग...जनता को जो कुछ मिलना चाहिए वह नहीं दे सकते। इस वाक्य में अतिशयोक्ति नहीं है। वह तो मेरी तीव्र भावना बतानेवाला हैं। मातृभाषा का जो अनादर हम कर रहे हैं, उसका हमें भारी प्रायश्चित करना पड़ेगा। इससे आम जनता को बड़ा नुकसान

हुआ है। इस नुकसान से उसे बचाना मैं पढ़े-लिखे लोगों का पहला फर्ज समझता हूँ।[२]

अंग्रेजी का विचारहीन मोह

अंग्रेजी सीखने के लिए हमारा जो विचारहीन मोह है, उससे खुद मुक्त होकर और समाज को मुक्त करके हम भारतीय जनता की एक बड़ी-से-बड़ी सेवा कर सकते हैं। अंग्रेजी के ज्ञान की आवश्यकता के विश्वास ने हमें गुलाम बना दिया है। उसने हमें सच्ची देश-सेवा करने में असमर्थ बना दिया है। अगर आदत ने हमें अन्धा न बना दिया होता, तो हम यह देखे बिना न रहते कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण जनता से हमारा सम्बन्ध टूट गया है, राष्ट्र का उत्तम मानस उपयुक्त भाषा के अभाव में अप्रकाशित रह जाता है और आधुनिक शिक्षा से हमें जो नये-नये विचार प्राप्त हुए हैं, उनका लाभ सामान्य लोगों को न मिलता। पिछले ६० वर्षों से हमारी सारी शक्ति ज्ञानोपार्जन के बजाय अपरिचित शब्द और उनके उच्चारण सीखने में खर्च हो रही है। हमें अपने माता-पिता से जो तालीम मिलती है उसकी नींव पर नया निर्माण करने के बजाय हमने उस तालीम को ही भुला दिया है। इतिहास में इस बात की कोई दूसरी मिसाल नहीं मिलती। यह हमारे राष्ट्र की एक अत्यन्त दुखपूर्ण घटना है। हमारी पहली और बड़ी-से-बड़ी समाज-सेवा यह होगी कि हम अपनी प्रान्तीय भाषाओं का उपयोग शुरू करें, हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में उसका स्वाभाविक स्थान दें, प्रान्तीय कामकाज प्रान्तीय भाषाओं में करें और राष्ट्रीय कामकाज हिन्दी में करें। जबतक हमारे स्कूल और कॉलेज प्रान्तीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण देना शुरू नहीं करते, तबतक हमें इस दिशा में लगातार कोशिश करनी चाहिए।[३]

यह मेरा निश्चित मत है कि आज की अंग्रेजी शिक्षा ने शिक्षित भारतीयों को निर्बल और शक्तिहीन बना दिया है।...राजा राममोहनराय

ज्यादा बड़े सुधारक़ हुए होते और लोकमान्य तिलक ज्यादा बड़े विद्वान् बने होते, अगर उन्हें अंग्रेजी में सोचने और अपने विचारों को दूसरों तक मुख्यत: अंग्रेजी में पहुँचाने की कठिनाई से आरम्भ न करना पड़ता। अगर वे थोड़ी कम अस्वाभाविक पद्धति में पढ़-लिखकर बड़े होते, तो अपने लोगों पर उनका असर, जो कि अद्भुत था, और भी ज्यादा होता। इसमें कोई शक नहीं कि अंग्रेजी साहित्य के समृद्ध भण्डार का ज्ञान प्राप्त करने से इन दोनों को लाभ हुआ। लेकिन इस भण्डार तक उनकी पहुँच उनकी अपनी मातृभाषाओं के जरिये होनी चाहिए थी। कोई भी देश नकलचियों की जाति पैदा करके राष्ट्र नहीं बना सकता।

...मैं जानता हूँ कि तुलनाएँ करना अच्छा नहीं है। अपने-अपने ढंग से सभी समानरूप से बड़े हैं। लेकिन फ़ल की दृष्टि से देखें तो जनता पर राममोहनराय का, तिलक का असर उतना स्थायी और दूरगामी नहीं है जितना कि चैतन्य आदि का। उन्हें जिन बाधाओं का मुकाबला करना पड़ा, उनकी दृष्टि से वे असाधारण कोटि के महापुरुष थे, और यदि जिस शिक्षा-प्रणाली से उन्हें अपनी तालीम लेनी पड़ी उसकी बाधा उन्हें न सहनी पड़ी होती, तो उन्होंने अवश्य ही ज्यादा बड़ी सफलताएँ प्राप्त की होतीं। मैं यह मानने से इनकार करता हूँ कि यदि राजा राममोहनराय और लोकमान्य तिलक को अंग्रेजी भाषा का ज्ञान न होता, तो उन्हें वे सब विचार सूझते ही नहीं जो उन्होंने दिये। भारत आज जिन वहमों का शिकार है, उनमें सबसे बड़ा वहम यह है कि स्वातंत्र्य से सम्बन्धित विचारों को हृदयंगम करने के लिए और तर्कशुद्ध चिन्तन की क्षमता का विकास करने के लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक है। यह याद रखना जरूरी है कि पिछले पचास वर्षों से देश के सामने शिक्षा की एक ही प्रणाली रही है और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उसके पास जबरन् लादा हुआ एक ही माध्यम रहा है। इसलिए हमारे पास इस बात का निर्णय करने के लिए कि मौजूदा स्कूलों और कॉलेजों में मिलनेवाली

शिक्षा न होती तो हमारी क्या हालत होती, जो सामग्री चाहिए वह है ही नहीं। लेकिन यह हम जरूर जानते हैं कि भारत पचास साल पहले की अपेक्षा आज ज्यादा गरीब है, अपनी रक्षा करने में आज ज्यादा असमर्थ है और उसके लड़के-लड़कियों की शरीर-सम्पत्ति घट गयी है।

इस शिक्षा-प्रणाली का जन्म ही एक बड़ी भ्रान्तियों में से हुआ है। अंग्रेज शासक ईमानदारी से यह मानते थे कि देशी शिक्षा-प्रणाली निकम्मी से भी ज्यादा बुरी है। और इस शिक्षा-प्रणाली का पोषण पाप में हुआ क्योंकि उसका उद्देश्य भारतीयों को शरीर, मन और आत्मा से बौना बनाने का रहा है।[४] ...मैकाले ने शिक्षा की जो बुनियाद डाली, वह सचमुच गुलामी की बुनियाद थी। उसने इसी इरादे से अपनी योजना बनायी थी, ऐसा मैं सुझाना नहीं चाहता। लेकिन उसके काम का नतीजा यही निकला है।...यह क्या कम जुल्म की बात है कि अपने देश में अगर मुझे इन्साफ पाना हो तो मुझे अंग्रेजी भाषा का उपयोग करना पड़े। बैरिस्टर होने पर मैं स्वभाषा बोल नहीं सकूँ! दूसरे आदमी को मेरे लिए तरजुमा कर देना चाहिए! यह कुछ कम दम्भ है? यह गुलामी की हद नहीं तो और क्या है? इसमें अंग्रेजों का दोष निकालूँ या अपना? हिन्दुस्तान को गुलाम बनानेवाले तो हम अंग्रेजी जाननेवाले लोग हैं। प्रजा की हाय अंग्रेजों पर नहीं पड़ेगी, बल्कि हम लोगों पर पड़ेगी।[५]

...आज अगर लोग अंग्रेजी पढ़ते हैं, तो व्यापारी बुद्धि से और तथाकथित राजनीतिक फायदे के लिए ही पढ़ते हैं, हमारे विद्यार्थी ऐसा मानने लगे हैं और अभी की हालत देखते हुए यह बिलकुल स्वाभाविक है कि अंग्रेजी के बिना उन्हें सरकारी नौकरी हरगिज नहीं मिल सकती। लड़कियों को तो इसलिए अंग्रेजी पढ़ाई जाती है कि उन्हें अच्छा वर मिल जायेगा। मैंने ऐसे कितने ही पति देखे हैं कि जिनकी स्त्रियाँ उनके साथ या उनके दोस्तों के साथ अंग्रेजी न बोल सकें तो उन्हें दुख होता है। मैं ऐसे कुछ कुटुम्बों को भी जानता हूँ, जिनमें अंग्रेजी भाषा को

अपनी मातृभाषा 'बना लिया' जाता है।...इस बुराई ने समाज में इतना घर कर लिया है, कि मानो शिक्षा का अर्थ अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के सिवा और कुछ है ही नहीं। मेरे खयाल से तो ये सब हमारी गुलामी और गिरावट की साफ निशानियाँ हैं।...मैं नहीं चाहता कि मेरा घर सब तरफ खड़ी हुई दीवारों से घिरा रहे और उसके दरवाजे और खिड़कियाँ बन्द कर दी जायँ। मैं भी यही चाहता हूँ कि मेरे घर के आसपास देश-विदेश की संस्कृति की हवा बहती रहे। पर मैं यह नहीं चाहता कि उस हवा से जमीन पर से मेरे पाँव उखड़ जायँ और मैं औंधे मुँह गिर पड़ूँ। मैं दूसरे के घर में अतिथि, भिखारी या गुलाम की हैसियत से रहने के लिए तैयार नहीं। झूठे घमण्ड के वश होकर या तथाकथित सामाजिक प्रतिष्ठा पाने के लिए मैं अपने देश की बहनों पर अंग्रेजी विद्या का नाहक बोझ डालने से इनकार करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि हमारे देश के जवान लड़के-लड़कियों को साहित्य में रस हो, तो वे भले ही दुनिया की दूसरी भाषाओं की तरह ही अंग्रेजी भी जी भरकर पढ़ें। फिर मैं उनसे आशा रखूँगा कि वे अपने अंग्रेजी पढ़ने का लाभ डॉ० बोस, राय और कवि-सम्राट* की तरह हिन्दुस्तान को और दुनिया को दें। लेकिन मुझे यह नहीं बरदाश्त होगा कि हिन्दुस्तान का एक भी आदमी अपनी मातृभाषा को भूल जाय, उसकी हँसी उड़ाये, उससे शरमाये या उसे यह लगे कि वह अपने अच्छे-से-अच्छे विचार अपनी भाषा में नहीं रख सकता। मैं संकुचित या बन्द दरवाजेवाले धर्म में विश्वास ही नहीं रखता। मेरे धर्म में ईश्वर की पैदा की हुई छोटी-से-छोटी चीज के लिए भी जगह है। मगर उसमें जाति, धर्म, वर्ण या रंग के घमण्ड के लिए कोई स्थान नहीं।[६]

विदेशी माध्यम ने हमारी देशी भाषाओं की प्रगति और विकास को रोक दिया है। अगर मेरे हाथ में तानाशाही सत्ता हो, तो मैं आज से ही

* डॉ. जगदीशचन्द्र बोस, सर प्रफुल्लचन्द्र राय और रवीन्द्रनाथ टैगोर। — सं०

विदेशी माध्यम के जरिये दी जानेवाली हमारे लड़कों और लड़कियों की शिक्षा बन्द कर दूँ और सारे शिक्षकों और प्रोफेसरों से यह माध्यम तुरन्त बदलवा दूँ या उन्हें बरखास्त करा दूँ। मैं पाठ्यपुस्तकों की तैयारी का इन्तजार नहीं करूँगा। वे तो माध्यम के परिवर्तन के पीछे-पीछे अपने-आप चली आयेंगी। यह एक ऐसी बुराई है, जिसका तुरन्त इलाज होना चाहिए।[७]

हमें जो कुछ उच्च शिक्षा मिली है। अथवा जो भी है, वह केवल अंग्रेजी के ही द्वारा न मिली होती, तो ऐसी स्वयंसिद्ध बात को दलीलें देकर सिद्ध करने की कोई जरूरत न होती कि किसी भी देश के बच्चों को अपनी राष्ट्रीयता टिकाये रखने के लिए नीची या ऊँची सारी शिक्षा उनकी मातृभाषा के जरिये ही मिलनी चाहिए। यह स्वयंसिद्ध बात है कि जबतक किसी देश के नौजवान ऐसी भाषा में शिक्षा पाकर उसे पचा न लें जिसे प्रजा समझ सके, तब तक वे अपने देश की जनता के साथ न तो जीता-जागता सम्बन्ध पैदा कर सकते हैं और न उसे कायम रख सकते हैं। आज इस देश के हजारों नौजवान एक ऐसी विदेशी भाषा और उसके मुहावरे पर अधिकार पाने में कई साल नष्ट करने को मजबूर किये जाते हैं, जो उनके दैनिक जीवन के लिए बिलकुल बेकार हैं और जिसे सीखने में उन्हें अपनी मातृभाषा या उसके साहित्य की उपेक्षा करनी पड़ती है। इससे होनेवाली राष्ट्र की अपार हानि का अन्दाजा कौन लगा सकता है? इससे बढ़कर कर कोई वहम कभी था ही नहीं कि अमुक भाषा का विकास हो ही नहीं सकता, या उसके द्वारा गूढ़ अथवा वैज्ञानिक विचार समझाये ही नहीं जा सकते। भाषा तो अपने बोलनेवालों के चरित्र और विकास का सच्चा प्रतिबिम्ब है।

विदेशी शासन के अनेक दोषों में देश के नौजवानों पर डाला गया विदेशी भाषा के माध्यम का घातक बोझ इतिहास में एक सबसे बड़ा दोष माना जायेगा। इस माध्यम ने राष्ट्र की शक्ति हर ली है, विद्यार्थियों

की आयु घटा दी है, उन्हें आम जनता से दूर कर दिया है और शिक्षण को बिना कारण खर्चीला बना दिया है। अगर यह प्रक्रिया अब भी जारी रही, तो जान पड़ता है वह राष्ट्र की आत्मा को नष्ट कर देगी। इसलिए शिक्षित भारतीय जितनी जल्दी विदेशी माध्यम के भयंकर वशीकरण से बाहर निकाल जायँ, उतना ही उनका और जनता का लाभ होगा।'

यह हरगिज न समझना चाहिए कि अंग्रेजी या उसके श्रेष्ठ साहित्य का मैं विराधी हूँ। 'हरिजन'* मेरे अंग्रेजी-प्रेम का पर्याप्त प्रमाण है। लेकिन उसके साहित्य की महत्ता राष्ट्र के लिए उससे अधिक उपयोगी नहीं जितना कि इंग्लैण्ड का समशीतोष्ण-जलवायु या वहाँ के सुन्दर दृश्य हो सकते हैं। भारत को तो अपने ही जलवायु, दृश्यों और साहित्यों में तरक्की करनी होगी, फिर चाहे वे अंग्रेजी जलवायु, दृश्यों और साहित्य से घटिया दरजे के ही क्यों न हों। हमें और हमारे बच्चों को तो अपनी ही विरासत बनानी चाहिए। अगर हम दूसरों की विरासत लेंगे तो हमारी अपनी नष्ट हो जायेगी। सच तो यह है कि विदेशी सामग्री पर हम कभी उन्नति नहीं कर सकते। मैं तो चाहता हूँ कि राष्ट्र अपनी ही भाषा का भण्डार भरे और इसके लिए संसार की अन्य भाषाओं का भण्डार भी अपनी ही देशी भाषाओं में संचित करे। रवीन्द्रनाथ की अनुपम कृतियों का सौन्दर्य जानने के लिए मुझे बंगला पढ़ने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि सुन्दर अनुवादों द्वारा मैं उसे पा लेता हूँ। इसी तरह टॉल्स्टॉय की संक्षिप्त कहानियों की कदर करने के लिए गुजराती लड़के-लड़कियों को रूसी भाषा पढ़ने की जरूरत नहीं, क्योंकि अच्छे अनुवादों के जरिये वे उन्हें पढ़ लेते हैं। अंग्रेजों को इस बात का गर्व है कि संसार की सर्वोत्तम साहित्य-रचनाएँ प्रकाशित होने के एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर सरल अंग्रेजी में उनके हाथों में आ पहुँचती हैं। ऐसी हालत में, 'शेक्सपियर और मिल्टन के सर्वोत्तम विचारों और रचनाओं के लिए मुझे अंग्रेजी पढ़ने की जरूरत क्यों हो?'

* अंग्रेजी साप्ताहिक, जिसका संपादन स्वयं गांधीजी करते थे।—सं०

...मेरी सम्मति में यह कोई ऐसा प्रश्न नहीं है जिसका निर्णय साहित्यज्ञों (पण्डितों) द्वारा हो। वे इस बात का निर्यण नहीं कर सकते कि किस स्थान के लड़के-लड़कियों की पढ़ाई किस भाषा में हों। क्योंकि इस प्रश्न का निर्णय तो हरएक देश में पहले ही (प्रकृति द्वारा) हो चुका है...उन्हें तो राष्ट्र की इच्छा को यथासम्भव सर्वोत्तम रूप से अमल में लाना है।...जब तक हम शिक्षित वर्ग इस प्रश्न के साथ खिलवाड़ करते रहेंगे, तब तक मुझे इस बात का बहुत भय है कि हम जिस स्वतंत्र और स्वस्थ भारत का स्वप्न देखते हैं, उसका निर्माण नहीं कर पायेंगे।[९]

मेरा यह कहना नहीं है कि हम शेष दुनिया से बचकर रहें या अपने आसपास दीवालें खड़ी कर लें। लेकिन मैं यह जरूर कहता हूँ कि पहले हम अपनी संस्कृति का सम्मान करना सीखें और उसे आत्मसात् करें। दूसरी संस्कृतियों के सम्मान की, उनकी विशेषताओं को समझने और स्वीकार करने की बात उसके बाद ही आ सकती है, उसके पहले कभी नहीं। मेरी यह दृढ़ मान्यता है कि हमारी संस्कृति में जैसी मूल्यवान् निधियाँ हैं, वैसी किसी दूसरी संस्कृति में नहीं हैं। हमने उसे पहचाना नहीं है, हमें उसके अध्ययन का तिरस्कार करना, उसके गुणों की कम कीमत करना सिखाया गया है। अपने आरचण में उसका व्यवहार करना तो हमने लगभग छोड़ ही दिया है। आचार के बिना कोरा बौद्धिक ज्ञान उस निर्जीव देह की तरह है, जिसे मसाला भरकर सुरक्षित रखा जाता है। वह शायद देखने में अच्छा लग सकता है, किन्तु उसमें प्रेरणा देने की शक्ति नहीं होती। मेरा धर्म मुझे आदेश देता है कि मैं अपनी संस्कृति से विच्छिन्न होकर हम एक समाज के रूप में मानो आत्महत्या कर लेंगे। किन्तु साथ ही वह मुझे दूसरों की संस्कृतियों का अनादर करने या उन्हें तुच्छ समझने से भी रोकता है।[१०]

हिन्दुस्तान की महान् भाषाओं की जो अवगणना हुई है और उसकी वजह से हिन्दुस्तान को जो बेहद नुकसान पहुँचा है, उसका कोई

अन्दाजा या माप आज हम निकाल नहीं सकते, क्योंकि हम इस घटना के बहुत नजदीक हैं। मगर इतनी बात तो आसानी से समझी जा सकती है कि अगर आज तक हुए नुकसान का इलाज नहीं किया गया, यानी जो हानि हो चुकी है उसकी भरपाई करने की कोशिश हमने न की, तो हमारी आम जनता को मानसिक मुक्ति नहीं मिलेगी। वह रूढ़ियों और वहमों से घिरी रहेगी। नतीजा यह होगा कि आम जनता स्वराज्य के निर्माण में कोई ठोस मदद नहीं पहुँचा सकेगी। अहिंसा की बुनियाद पर रचे गये स्वराज्य की चर्चा में यह बात शामिल है कि हमारा हरएक आदमी (उसके निर्माण में) खुद स्वतंत्र रूप से सीधा हाथ बटाये। लेकिन अगर हमारी आम जनता (स्वराज्य के) हर पहलू और उसकी हर सीढ़ी से परिचित न हो और उसके रहस्य को भलीभाँति न समझती हो, तो स्वराज्य की रचना में वह अपना हिस्सा किस तरह अदा करेगी?"[११]

मेरी मातृभाषा में कितनी ही खामियाँ क्यों न हों, मैं उससे उसी तरह चिपका रहूँगा जिस तरह अपनी माँ की छाती से। वही मुझे जीवनदायी दूध दे सकती है। मैं अंग्रेजी को भी उसकी जगह प्यार करता हूँ। लेकिन अगर अंग्रेजी उस जगह को हड़पना चाहती है जिसकी वह हकदार नहीं है, तो मैं उससे सख्त नफरत करूँगा। यह बात मानी हुई है कि अंग्रेजी आज सारी दुनिया की भाषा बन गयी है। इसलिए मैं उसे दूसरी जबान के तौरपर जगह दूँगा—लेकिन विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में, स्कूलों में नहीं। वह कुछ लोगों के सीखने की चीज हो सकती है, लाखों-करोड़ों की नहीं। आज जब हमारे पास प्राइमरी शिक्षा को मुल्क में लाजिमी बनाने के जरिये नहीं हैं, तो हम अंग्रेजी सिखाने के जरिये कहाँ से जुटा सकते हैं? रूस ने बिना अंग्रेजी के विज्ञान में इतनी उन्नति की है। आज अपनी मानसिक गुलामी की वजह से ही हम यह मानने लगे हैं कि अंग्रेजी के बिना हमारा काम चल नहीं सकता। मैं इस चीज को नहीं मानता।[१२]

अगर सरकारें और उनके दफ्तर सावधानी नहीं बरतेंगे, तो मुमकिन है कि अंग्रेजी भाषा हिन्दुस्तानी की जगह को हड़प ले। इससे हिन्दुस्तान के उन करोड़ों लोगों को बेहद नुकसान होगा, जो कभी भी अंग्रेजी समझ नहीं सकेंगे। मेरे खयाल में प्रान्तीय सरकारों के लिए यह बहुत आसान बात होनी चाहिए कि वे अपने यहाँ ऐसे कर्मचारी रखें, जो सारा काम प्रान्तीय भाषाओं में और अन्तर-प्रान्तीय भाषा में कर सकें। मेरी राय में अन्तर-प्रान्तीय भाषा सिर्फ नागरी या उर्दू लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दुस्तानी ही हो सकती है।

यह जरूरी फेरफार करने में एक दिन भी खोना देश को भारी सांस्कृतिक नुकसान पहुँचाना है। सबसे पहली और जरूरी चीज यह है कि हम अपनी उन प्रान्तीय भाषाओं का संशोधन करें, जो हिन्दुस्तान को वरदान की तरह मिली हुई हैं। यह कहना दिमागी आलस के सिवा और कुछ नहीं है कि हमारी अदालतों, हमारे स्कूलों और यहाँ तक कि हमारे दफ्तरों में भी यह भाषा सम्बन्धी फेरफार करने के लिए कुछ समय, शायद कुछ वर्ष चाहिए।...जिस तरह हमारी आजादी को जबरदस्ती छीननेवाले अंग्रेजों की सियासी हुकूमत को हमने सफलतापूर्वक इस देश से निकाल दिया, उसी तरह हमारी संस्कृति को दबानेवाली अंग्रेजी भाषा कों हमें यहाँ से निकाल बाहर करना चाहिए, हाँ, व्यापार और राजनीति की आन्तर्राष्ट्रीय भाषा के नाते समृद्ध अंग्रेजी का अपना स्वाभाविक स्थान हमेशा कायम रहेगा।[१३]

मेरी राय में धार्मिक बातों में संस्कृत का उपयोग करना छोड़ा नहीं जा सकता। अनुवाद कितना ही शुद्ध क्यों न हो, किन्तु वह मूल मंत्रों का स्थान नहीं ले सकता। मूल मंत्रों में अपनी एक विशेषता होती है, जो अनुवाद में नहीं आ सकती। इसके सिवा यदि हम इन मंत्रों को, जिनका पाठ शताब्दियों तक संस्कृत में ही होता रहा है, अब अपनी देशी भाषाओं में दुहराने लगें, तो इससे उनकी गम्भीरता में कमी आयेगी।

लेकिन साथ ही मेरा स्पष्ट मत है कि मंत्र का पाठ और विधि का अनुष्ठान करनेवाले को मंत्र का अर्थ और विधि का तात्पर्य अच्छी तरह समझाया जाना चाहिए। हिन्दू बालक की शिक्षा संस्कृत के प्रारम्भिक ज्ञान के बिना अधूरी मानी जानी चाहिए। संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य का अध्ययन यथेष्ट मात्रा में न चलता रहा तो हिन्दू-धर्म का नाश हो जायेगा। मौजूदा शिक्षा-पद्धति की कमियों के कारण ही संस्कृत सीखना कठिन मालूम होता है, असल में वह कठिन नहीं है। लेकिन कठिन हो तो धर्म का आचरण और ज्यादा कठिन है। इसलिए जो धर्म का आचरण करना चाहता है, उसे अपने मार्ग की तमाम सीढ़ियों को, फिर वे कितनी भी कठिन क्यों न दिखायी दें, आसान ही समझना चाहिए।"[१४]

१३. राष्ट्रभाषा और लिपि

अगर हमें एक राष्ट्र होने का अपना दावा सिद्ध करना है, तो हमारी अनेक बातें एक-सी चाहिए। भिन्न-भिन्न धर्म और सम्प्रदायों को एक सूत्र में बाँधनेवाली हमारी एक सामान्य संस्कृति है। हमारी त्रुटियाँ और बाधाएँ भी एक-सी हैं। हमारी पोशाक के लिए एक ही तरह का कपड़ा न केवल वांछनीय है, बल्कि आवश्यकता भी है। हमें एक सामान्य भाषा की भी जरूरत है, देशी (प्रान्तीय) भाषाओं की जगह पर नहीं, परन्तु उनके अलावा। इस बात में साधारण सहमति है कि यह माध्यम हिन्दुस्तानी ही होना चाहिए, जो हिन्दी और उर्दू के मेल से बने और जिसमें न तो संस्कृत की और न फारसी या अरबी की ही भरमार हो।

हमारे रास्ते की सबसे बड़ी रुकावट हमारी देशी भाषाओं की कई लिपियाँ हैं। अगर एक सामान्य लिपि अपनाना सम्भव हो, तो एक सामान्य भाषा का हमारा जो स्वप्न है—अभी तो वह स्वप्न ही है—उसे पूरा करने के मार्ग की एक बड़ी बाधा दूर हो जायेगी।

भिन्न-भिन्न लिपियों का होना कई तरह से बाधक है। वह ज्ञान की प्राप्ति में एक कारगर रुकावट है। आर्य भाषाओं में इतनी समानता है कि अगर भिन्न-भिन्न लिपियाँ सीखने में बहुत-सा समय बरबाद न करना पड़े, तो हम सब किसी बड़ी कठिनाई के बिना कई भाषाएँ जान लें। उदाहरण के लिए, जो लोग संस्कृत का थोड़ा भी ज्ञान रखते हैं, उनमें से अधिकांश को रवीन्द्रनाथ टैगोर की अद्वितीय कृतियों को समझने में कोई कठिनाई न हो, अगर वे सब देवनागरी लिपि में छपें परन्तु बंगला लिपि मानो गैर-बंगालियों के लिए 'दूर रहो' की सूचना है। इसी तरह यदि बंगाली लोग देवनागरी लिपि जानते हों, तो वे तुलसीदास की रचनाओं की अद्भुत सुन्दरता और आध्यात्मिकता का तथा अन्य अनेक हिन्दुस्तानी लेखकों का आनन्द अनायास लूट सकते हैं।...समस्त भारत के लिए एक सामान्य लिपि एक दूर का आदर्श है, परन्तु जो भारतीय संस्कृत से उत्पन्न भाषाएँ और दक्षिण की भाषाएँ बोलते हैं, उन सबके लिए एक सामान्य लिपि एक व्यावहारिक आदर्श है, अगर हम सिर्फ अपनी-अपनी प्रान्तीयता छोड़ दें।

उदाहरण के लिए, किसी गुजराती का गुजराती लिपि से चिपके रहना अच्छी बात नहीं है। प्रान्तप्रेम वहाँ अच्छा है, जहाँ वह अखिल भारतीय देश-प्रेम की बड़ी धारा को पुष्ट करता है। इसी प्रकार अखिल भारतीय प्रेम भी उसी हदतक अच्छा है, जहाँ तक वह विश्वप्रेम के और भी बड़े लक्ष्य की पूर्ति करता है । परन्तु जो प्रान्तप्रेम यह कहता है कि "भारत कुछ नहीं, गुजरात ही सर्वस्व है," वह बुरी चीज है। मैं मानता हूँ कि इस बात का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण देने की जरूरत नहीं कि देवनागरी ही सर्वसामान्य लिपि होनी चाहिए, क्योंकि उसके पक्ष में निर्णायक बात यह है कि उसे भारत के अधिकांश भाग के लोग जानते हैं।...जो वृत्ति इतनी वर्जनशील और संकीर्ण हो कि हर बोली को चिरस्थायी बनाना और विकसित करना चाहती हो, वह राष्ट्रविरोधी और

विश्वविरोधी है।...अगर हमें सुसंस्कृत भारत के लिए एक सामान्य भाषा बनानी हो, तो हमें भाषाओं और लिपियों की संख्या बढ़ानेवाली या देश की शक्तियों को छिन्न-भिन्न करनेवाली किसी भी क्रिया का बढ़ना रोकना होगा। हमें एक सामान्य भाषा की वृद्धि करनी होगी।...अगर मेरी चले तो जमी हुई प्रान्तीय लिपि के साथ-साथ मैं सब प्रान्तों में देवनागरी लिपि और उर्दू लिपि का सीखना अनिवार्य कर दूँ और विभिन्न देशी भाषाओं की मुख्य-मुख्य पुस्तकों को उनके शब्दश: हिन्दुस्तानी अनुवाद के साथ देवनागरी में छपवा दूँ।'

अंग्रेजी राष्ट्रभाषा क्यों नहीं हो सकती?

हमें (लिपि के साथ-साथ) राष्ट्रभाषा का भी विचार करना चाहिए। यदि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा बननेवाली हो, तो उसे हमारे स्कूलों में अनिवार्य स्थान मिलना चाहिए। तो अब हम पहले यह सोचें कि क्या अंग्रेजी हमारी राष्ट्रभाषा हो सकती है?

कुछ स्वदेशाभिमानी विद्वान् कहते हैं कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा हो सकती है या नहीं, यह प्रश्न ही अज्ञानता को बताता है। उनकी राय में अंग्रेजी तो राष्ट्रभाषा बन ही चुकी है।

हमारे पढ़े-लिखे लोगों की दशा को देखते हुए ऐसा लगता है कि अंग्रेजी के बिना हमारा कारबार बन्द हो जायेगा। ऐसा होने पर भी जरा गहरे जाकर देखेंगे, तो पता चलेगा कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा न तो हो सकती है, और न होनी चाहिए।

(पहले) हम यह देखें कि राष्ट्रभाषा के क्या लक्षण होने चाहिए :

१. वह भाषा सरकारी नौकरों के लिए आसान होनी चाहिए।

२. उस भाषा द्वारा भारत का आपसी धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक कामकाज हो सकना चाहिए।

३. उस भाषा को भारत के ज्यादातर लोग बोलते हों।

४. वह भाषा राष्ट्र के लिए आसान हो।

५. उस भाषा का विचार करते समय क्षणिक या कुछ समय तक रहनेवाली स्थिति पर जोर न दिया जाय।

अंग्रेजी भाषा में इनमें से एक भी लक्षण नहीं है।

पहला लक्षण मुझे अन्त में रखना चाहिए था। परन्तु मैंने उसे पहले इसलिए रखा है कि वह लक्षण अंग्रेजी भाषा में दिखायी पड़ सकता है। ज्यादा सोचने पर हम देखेंगे कि आज भी राज्य के नौकरों के लिए वह भाषा आसान नहीं है। अधिकतर कर्मचारी आज भी भारतीय हैं। और वे दिन-दिन बढ़ते ही जायेंगे। यह तो सभी मानेंगे कि इस वर्ग के लिए भारत की किसी भी भाषा से अंग्रेजी ज्यादा कठिन है।

दूसरा लक्षण विचारते समय हम देखते हैं कि जब तक आम लोग अंग्रेजी बोलनेवाले न हो जायँ, तब तक हमारा धार्मिक व्यवहार अंग्रेजी में नहीं हो सकता। इस हदतक अंग्रेजी भाषा का समाज में फैल जाना असम्भव मालूम होता है।

तीसरा लक्षण अंग्रेजी में नहीं हो सकता, क्योंकि वह भारत के अधिकतर लोगों की भाषा नहीं है।

चौथा लक्षण भी अंग्रेजी में नहीं है, क्योंकि सारे राष्ट्र के लिए वह इतनी आसान नहीं है।

पाँचवें लक्षण पर विचार करते समय हम देखते हैं कि अंग्रेजी भाषा की आज की सत्ता क्षणिक है। सदा बनी रहनेवाली स्थिति तो यह है कि भारत में जनता के राष्ट्रीय काम में अंग्रेजी भाषा की जरूरत थोड़ी ही रहेगी। (वैदेशिक)...कामकाज में उसकी जरूरत रहेगी।...हमें अंग्रेजी भाषा से कुछ भी वैर नहीं है। हमारा आग्रह तो इतना ही है कि उसे हद से बाहर न जाने दिया जाय। राष्ट्र की भाषा अंग्रेजी नहीं हो सकती।...यह कल्पना ही हमारी कमजोरी को बताती है कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा हो सकती है।

हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है

तो फिर कौन-सी भाषा उन पाँच लक्षणोंवाली है? यह माने बिना काम नहीं चल सकता है कि हिन्दी भाषा में ये सारे लक्षण मौजूद हैं।

ये पाँच लक्षण रखने में हिन्दी से होड़ करनेवाली और कोई भाषा नहीं है। हिन्दी के बाद दूसरा दर्जा बंगला का है। फिर भी बंगाली लोग बंगाल के बाहर हिन्दी का उपयोग करते हैं। हिन्दी बोलनेवाले जहाँ जाते हैं हिन्दी का ही उपयोग करते हैं और इससे किसी को अचम्भा नहीं होता। हिन्दी के धर्मोपदेशक और उर्दू के मौलवी सारे भारत में अपने भाषण हिन्दी में ही देते हैं और अनपढ़ जनता वहाँ उन्हें समझ लेती है। मैंने देखा है कि ठेठ द्रविड़ प्रान्त में भी हिन्दी की आवाज सुनायी देती है। यह कहना ठीक नहीं है कि मद्रास में तो अंग्रेजी से ही काम चलता है। वहाँ भी मैंने अपना सारा काम हिन्दी से चलाया है। सैकड़ों मद्रासी मुसाफिरों को मैंने दूसरे लोगों के साथ हिन्दी में बोलते सुना है। इसके सिवा, मद्रास के मुसलमान भाई तो अच्छी तरह हिन्दी बोलना जानते हैं। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि सारे भारत के मुसलमान उर्दू बोलते हैं और उनकी संख्या सारे प्रान्तों में कुछ कम नहीं है।

इस तरह हिन्दी भाषा पहले से ही राष्ट्रभाषा बन चुकी है। हमने वर्षों पहले उनका राष्ट्रभाषा के रूप उपयोग किया है। उर्दू भी हिन्दी की इस शक्ति से ही पैदा हुई है।

मुसलमान बादशाह भारत में फरसी-अरबी को राष्ट्रभाषा नहीं बना सके। उन्होंने हिन्दी के व्याकरण को मानकर उर्दू लिपि काम में ली और फारसी शब्दों का ज्यादा उपयोग किया। परन्तु आम लोगों के साथ अपना व्यवहार वे विदेशी भाषा द्वारा नहीं चला सके।...जिन्हें लड़ाकू वर्गों का अनुभव है, वे जानते हैं कि सैनिकों के लिए चीजों के नाम हिन्दी या उर्दू में रखने पड़ते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। फिर भी मद्रास के पढ़े-लिखों के लिए यह सवाल कठिन है। लेकिन दक्षिणी, बंगाली, सिंधी और गुजराती लोगों के लिए तो वह बड़ा आसान है। कुछ महीनों में हिन्दी पर अच्छा काबू करके राष्ट्रीय कामकाज उसमें चला सकते हैं। तमिल भाइयों के बारे में यह उतना आसान नहीं है। तमिल आदि द्राविड़ी हिस्सों की अपनी भाषाएँ हैं। और उनकी बनावट और उनका व्याकरण संस्कृत से अलग है। शब्दों की एकता के सिवा और कोई एकता संस्कृत भाषाओं और द्राविड़ भाषाओं में नहीं पायी जाती।

परन्तु यह कठिनाई सिर्फ आज के पढ़े-लिखे लोगों के लिए ही है। उनके स्वदेशाभिमान पर भरोसा करने और विशेष प्रयत्न करके हिन्दी सीख लेने की आशा रखने का हमें अधिकार है। भविष्य में यदि हिन्दी को उसका राष्ट्रभाषा का पद मिले, तो हर मद्रासी स्कूल में हिन्दी पढ़ाई जायेगी और मद्रास तथा दूसरे प्रान्तों के बीच विशेष परिचय होने की सम्भावना बढ़ जायेगी।[२]

दक्षिण के भाईयों से

मुझे पक्का विश्वास है कि किसी दिन द्रविड़ भाई-बहन गम्भीर भाव से हिन्दी का अभ्यास करने लग जायेंगे। आज अंग्रेजी पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए वे जितनी मेहनत करते हैं, उसका आठवाँ हिस्सा भी हिन्दी सीखने में करें, तो बाकी हिन्दुस्तान के जो दरवाजे आज उनके लिए बन्द हैं, वे खुल जायँ और वे इस तरह हमारे साथ एक हो जायँ जैसे पहले कभी न थे। मैं जानता हूँ कि इस पर कुछ लोग यह कहेंगे कि यह दलील तो दोनों ओर लागू होती है। द्रविड़ लोगों की संख्या कम है, इसलिए राष्ट्र की शक्ति के मितव्यय की दृष्टि से यह जरूरी है कि हिन्दुस्तान के बाकी सब लोगों को द्रविड़ भारत के साथ बातचीत करने के लिए तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम सिखाने

के बदले द्रविड़ भारतवालों को शेष हिन्दुस्तान की आम भाषा सीख लेनी चाहिए।

कोई भी द्रविड़ यह न सोचे कि हिन्दी सीखना जरा भी मुश्किल है। अगर रोज के मनोरंजन के समय में से नियमपूर्वक थोड़ा समय निकाला जाय, तो साधारण आदमी एक साल में हिन्दी सीख सकता है।...मैं अपने अनुभव से यह कह सकता हूँ कि द्रविड़ बालक अद्भुत सरलता से हिन्दी सीख लेते हैं। शायद कुछ ही लोग यह जानते होंगे कि दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाले लगभग सभी तमिल-तेलगू-भाषी लोग हिन्दी समझते हैं और उसमें बातचीत कर सकते हैं।[3]...जितने साल हम अंग्रेजी सीखने में बरबाद करते हैं, उतने महीने भी अगर हम हिन्दुस्तानी सीखने की तकलीफ न उठायें, तो सचमुच कहना होगा कि जन-साधारण के प्रति अपने प्रेम की जो डींगें हम हाँका करते हैं वे निरी डींगें ही हैं।[4]

हिन्दुस्तान की दूसरी कोई भाषा न सीखने के बारे में बंगाल का अपना जो पूर्वाग्रह है और द्रविड़ लोगों को हिन्दुस्तानी सीखने में जो कठिनाई मालूम होती है, उसकी वजह से हिन्दुस्तानी न जानने के कारण शेष हिन्दुस्तानी से अलग पड़ जानेवाले दो प्रान्त हैं—बंगाल और मद्रास। अगर कोई साधारण बंगाली हिन्दुस्तानी सीखने में रोज तीन घण्टे खर्च करे, तो सचमुच ही दो महीनों में वह उसे सीख लेगा, और इसी रफ्तार से सीखने में द्रविड़ को छह महीने लगेंगे। कोई बंगाली या द्रविड़ इतने समय में अंग्रेजी सीख लेने की आशा नहीं कर सकता। हिन्दुस्तानी जाननेवालों के मुकाबले अंग्रेजी जाननेवाले हिन्दुस्तानियों की संख्या कम है। अंग्रेजी जानने से इन थोड़े लोगों के साथ ही विचार-विनिमय के द्वार खुलते हैं। इसके विपरीत हिन्दुस्तानी का कामचलाऊ ज्ञान अपने देश के बहुत ही ज्यादा भाई-बहनों के साथ बातचीत करने की शक्ति प्रदान करता है।...मैं द्रविड़ भाइयों की कठिनाई को समझता हूँ, लेकिन मातृभूमि के प्रति उनके प्रेम और उद्यम के सामने कोई चीज कठिन नहीं है।

अगर हम बनावटी वातावरण में न रहते होते, तो दक्षिणवासी लोगों को न तो हिन्दी सीखने में कोई कष्ट मालूम होता, और न उनकी व्यर्थता का अनुभव ही होता। हिन्दी-भाषी लोगों को दक्षिण की भाषा सीखने की जितनी जरूरत है, उसकी अपेक्षा दक्षिणवालों को हिन्दी सीखने की आवश्यकता अवश्य ही अधिक है। सारे हिन्दुस्तान में हिन्दी बोलने और समझनेवालों की संख्या दक्षिण की भाषा बोलनेवालों से दुगुनी है। प्रान्तीय भाषा या भाषाओं के बदलने में नहीं, बल्कि उनके अलावा एक प्रान्त का दूसरे प्रान्त से सम्बन्ध जोड़ने के लिए एक सर्वसामान्य भाषा की आवश्यकता है। ऐसी भाषा तो हिन्दी-हिन्दुस्तानी ही हो सकती है।

कुछ लोग, जो अपने मन से सर्वसाधारण का खयाल ही भुला देते हैं, अंग्रेजी को हिन्दी की बराबरी से चलनेवाली ही नहीं, बल्कि एकमात्र शक्य राष्ट्रभाषा मानते हैं। परदेशी जुए की मोहिनी न होती, तो इस बात की कोई कल्पना भी न करता। दक्षिण-भारत की सर्व-साधारण जनता के लिए, जिसे राष्ट्रीय कार्य में ज्यादा-से-ज्यादा हाथ बँटाना होगा, कौन-सी भाषा सीखना आसान है—जिस भाषा में अपनी भाषाओं के बहुतेरे शब्द एक-से हैं और जो उन्हें एकदम लगभग सारे उत्तरी हिन्दुस्तान के सम्पर्क में आती है वह हिन्दी, या मुट्ठीभर लोगों द्वारा बोली जानेवाली सब तरह से विदेशी अंग्रेजी?

इस पसन्द का सच्चा आधार...(हमारी) स्वराज्य-विषयक कल्पना पर निर्भर है। अगर स्वराज्य अंग्रेजी बोलनेवाले भारतीयों का और उन्हीं के लिए हो, तो निस्सन्देह अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा होगी। लेकिन अगर स्वराज्य करोड़ों भूखों मरनेवालों का, करोड़ों निरक्षरों का, निरक्षर बहनों का और दलितों व अन्त्यजों का हो और इन सबके लिए हो, तो हिन्दी ही एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है।[६]

मैं हमेशा से यह मानता रहा हूँ कि हम किसी भी हालत में प्रान्तीय भाषाओं को नुकसान पहुँचाना या मिटाना नहीं चाहते। हमारा मतलब तो

सिर्फ यह है कि विभिन्न प्रान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए हम हिन्दी भाषा सीखें। ऐसा कहने से हिन्दी के प्रति हमारा कोई पक्षपात प्रकट नहीं होता। हिन्दी को हम राष्ट्रभाषा मानते हैं। वह राष्ट्रीय होने के लायक है। वही भाषा राष्ट्रीय बन सकती है, जिसे अधिक संख्या में लोग जानते-बोलते हों, और जो सीखने में सुगम हो।[७]

अंग्रेजी आन्तर-राष्ट्रीय व्यापार की भाषा है, कूटनीति की भाषा है, उसमें अनेक बढ़िया साहित्यिक रत्न भरे हैं और उसके द्वारा हमें पाश्चात्य विचार और संस्कृति का परिचय होता है। इसलिए हममें से कुछ लोगों के लिए अंग्रेजी जानना जरूरी है। वे राष्ट्रीय व्यापार और आन्तर-राष्ट्रीय कूटनीति के विभाग चला सकते हैं और राष्ट्र को पश्चिम का उत्तम साहित्य, विचार और विज्ञान दे सकते हैं। यह अंग्रेजी का उचित उपयोग होगा। आजकल तो अंग्रेजी ने हमारे हृदयों में सबसे प्रिय स्थान जबरदस्ती छीनकर हमारी मातृभाषाओं को सिंहासनच्युत कर दिया है। अंग्रेजों के साथ हमारे बराबरी के सम्बन्ध न होने के कारण वह इस अस्वाभाविक स्थान पर बैठ गयी है। अंग्रेजी के ज्ञान के बिना ही भारतीय मस्तिष्क का उच्च-से-उच्च विकास सम्भव होना चाहिए। हमारे लड़कों और लड़कियों को यह सोचने का प्रोत्साहन देना कि अंग्रेजी जाने बिना उत्तम समाज में प्रवेश करना असम्भव है, भारत के पुरुष-समाज के और खास तौरपर नारी-समाज के प्रति हिंसा करना है। यह विचार इतना अपमानजनक है कि सहन नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी के मोह से छुटकारा पाना स्वराज्य के लिए एक जरूरी शर्त है।[८]

अगर हिन्दुस्तान को सचमुच एक राष्ट्र बनाना है, तो...राष्ट्रभाषा तो हिन्दी ही बन सकती है, क्यों कि जो स्थान हिन्दी को प्राप्त है, वह किसी दूसरी भाषा को कभी नहीं मिल सकता। हिन्दू-मुसलमान दोनों को मिलाकर करीब बाईस करोड़ मनुष्यों की भाषा थोड़े-बहुत फेरफार से हिन्दी-हिन्दुस्तानी ही है।

इसलिए उचित और सम्भव तो यही है कि प्रत्येक प्रान्त में उस प्रान्त की भाषा का, सारे देश के पारस्परिक व्यवहार के लिए हिन्दी का आन्तर-राष्ट्रीय उपयोग के लिए अंग्रेजी का व्यवहार हो। हिन्दी बोलनेवालों की संख्या करोड़ों की रहेगी, किन्तु अंग्रेजी बोलनेवालों की संख्या कुछ लाख से आगे कभी नहीं बढ़ सकेगी। इसका प्रयत्न भी करना जनता के साथ अन्याय करना होगा।[१]

१४. सन्तति-नियमन

मैं कृत्रिम उपायों द्वारा सन्तति-नियमन करने के प्रश्न पर...(कहना) चाहता हूँ। आजकल हमारे कानों में ढिंढोरा पीट-पीटकर कहा जाता है कि जिस प्रकार कर्ज चुकाना हमारा कर्तव्य है, उसी प्रकार विषय-वासना की तृप्ति भी हमारा परम कर्तव्य है। और अगर हम ऐसा न करें तो सजा के रूप में हमारी बुद्धि मन्द हो जाती है। ऐसा कहा जाता है कि विषय-वासना प्रजोत्पत्ति की इच्छा से भिन्न है। और कृत्रिम उपायों के हिमायती कहते हैं कि गर्भाधान तो एक अकस्मात् होनेवाली घटना है और जब तक पति-पत्नी की इच्छा सन्तान उत्पन्न करने की न हो, तब तक इस घटना को रोकना चाहिए। मैं कहना चाहता हूँ कि इस सिद्धान्त का उपदेश...करना अत्यन्त भयानक बात है।...अगर विषय-वासना की तृप्ति एक कर्तव्य हो, तो अकुदरती मैथुन और वासना-तृप्ति के अनेक दूसरे मार्ग स्तुत्य माने जायेंगे।...इस चीज पर किसी भी तरह प्रतिष्ठा की मुहर लग गयी, तो लड़कों और लड़कियों में समान-लिंगी लोगों द्वारा वासना की तृप्ति कर लेने की प्रबल आतुरता जागेगी। मनुष्यों ने आज तक अपनी विषय-वासना की तृप्ति के लिए जिन उपायों का सहारा लिया है और जिनके परिणामों को बहुत ही कम लोग जानते हैं, उनमें और कृत्रिम उपायों के उपयोग में मैं बहुत फर्क नहीं करता।[१]

सन्तति-नियमन का एकमात्र उपाय

सन्तति के जन्म को मर्यादित करने की आवश्यकता के बारे में दो मत हो ही नहीं सकते। परन्तु इसका एकमात्र उपाय—संयम या ब्रह्मचर्य, जो कि युगों से हमें प्राप्त है। यह रामबाण और सर्वोपरि उपाय है और जो इसका सेवन करते हैं, उन्हें लाभ ही लाभ होता है। डॉक्टर लोगों का मानव-जाति पर बड़ा उपकार होगा, यदि वे सन्तति-नियमन के लिए कृत्रिम साधनों की तजबीज करने के बजाय आत्म-संयम के साधन निर्माण करें।

कृत्रिम साधनों की सलाह देना मानो बुराई का हौसला बढ़ाना है। उससे पुरुष और स्त्री दोनों उच्छृखल हो जाते हैं। और इन कृत्रिम साधनों को जो प्रतिष्ठा दी जा रही है, उससे उस संयम के ह्रास की गति बढ़े बिना न रहेगी, जो कि लोकमत के कारण हम पर रहता है। कृत्रिम साधनों के अवलम्बन का कुफल होगा नपुंसकता और क्षीणवीर्यता। यह दवा रोग से भी ज्यादा बदतर साबित हुए बिना न रहेगी।

अपने कर्म के फल को भोगने से दुम दबाना दोष है, अनीतिपूर्ण है। जो शख्स जरूरत से ज्यादा खा लेता है, उसके लिए यही अच्छा है कि उसके पेट में दर्द हो और उसे लंघन करना पड़े। जबान को काबू में न रखकर अनाप-शनाप खा लेना और फिर बलवर्धक या दूसरी दवाइयाँ खाकर उसके नतीजे से बचना बुरा है। पशु की तरह विषय-भोग में गर्क रहकर अपने इस कृत्य के फल से बचना और भी बुरा है। प्रकृति बड़ी कठोर शासक है। वह अपने कानून-भंग का पूरा बदला बिना आगापीछा देखे चुकाती है। केवल नैतिक संयम द्वारा ही हमें नैतिक फल मिल सकता है। संयम के दूसरे तमाम साधन अपने हेतु के ही विनाशक सिद्ध होंगे।[२]

विषय-भोग करते हुए भी कृत्रिम उपायों द्वारा प्रजोत्पत्ति रोकने की प्रथा पुरानी है। मगर पूर्वकाल में वह गुप्तरूप से चलती थी। आधुनिक

सभ्यता के इस जमाने में उसे ऊँचा स्थान मिल गया है। और कृत्रिम उपायों की रचना भी व्यवस्थित तरीके से की गयी है। इस प्रथा को परमार्थ का जामा पहनाया गया है। इन उपायों के हिमायती कहते हैं कि भोगेच्छा स्वाभाविक वस्तु है, शायद उसे ईश्वर का वरदान भी कहा जा सकता है। उसे निकाल फेंकना अशक्य है। उस पर संयम का अंकुश रखना कठिन है। और अगर संयम के सिवा दूसरा कोई उपाय न ढूँढ़ा जाय, तो असंख्य स्त्रियों के लिए प्रजोत्पत्ति बोझरूप हो जायेगी, और भोग से उत्पन्न होनेवाली प्रजा इतनी बढ़ जायेगी कि मनुष्य-जाति के लिए पूरी खुराक ही नहीं मिल सकेगी। इन दो आपत्तियों को रोकने के लिए कृत्रिम उपायों की योजना करना मनुष्य का धर्म हो जाता है।

कृत्रिम उपायों का सबसे बड़ा नुकसान

मुझ पर इस दलील का असर नहीं हुआ है। क्योंकि इन उपायों द्वारा मनुष्य अनेक दूसरी मुसीबतें मोल लेता है। मगर सबसे बड़ा नुकसान तो यह है कि कृत्रिम उपायों के प्रचार से संयम-धर्म के लोप हो जाने का भय पैदा होगा। इस रत्न को बेचकर चाहे जैसा तात्कालिक लाभ मिले, तो भी यह सौदा करने योग्य नहीं है।... कठिनाई आत्म-वंचना से पैदा होती है। इसमें त्याग का आरम्भ विचार-शुद्धि से नहीं होता, केवल बाह्याचार को रोकने के लिए निष्फल प्रयत्न से होता है। विचार की दृढ़ता के साथ आचार का संयम शुरू हो, तो सफलता मिले बिना रह ही नहीं सकती। स्त्री-पुरुष की जोड़ी विषय-सेवन के लिए हरगिज नहीं बनी है।[३]...कामेच्छा एक सुन्दर और उदात्त वस्तु है। इसमें लज्जित होने की कोई बात नहीं। परन्तु वह केवल सृजन-कार्य के लिए ही बनायी गयी है। उसका और कोई उपयोग करना ईश्वर और मानवता के प्रति पाप है।[४]

...कृत्रिम उपायों का उपयोग करनेवालों से संयम की आशा रखना व्यर्थ है। काम-वासना का संयम असम्भव है, यह मानकर ही तो

सन्तति नियमन का प्रचार होता है। जननेन्द्रिय के संयम को असंभव, अनावश्यक और हानिकारक मानना मेरे खयाल से धर्म को न मानने जैसा है, क्योंकि धर्म की सारी रचना संयम की नींव पर खड़ी है।[५]

मुझे मालूम है कि गुप्त पाप ने पाठशाला के लड़के-लड़कियों का कैसा भयंकर विनाश किया है। विज्ञान के नाम पर कृत्रिम साधनों के प्रचलित होने और समाज के प्रसिद्ध नेताओं की उस पर मुहर लग जाने से समस्या और बढ़ गयी है, और जो सुधारक सामाजिक जीवन की शुद्धि का काम करते हैं, उनका कार्य आज असम्भव-सा हो गया है। मैं पाठकों को यह सूचना देते हुए कोई विश्वासघात नहीं कर रहा हूँ कि ऐसी कुँवारी लड़कियाँ हैं, जिन पर आसानी से किसी भी बात का प्रभाव पड़ सकता है और जो स्कूल-कॉलेजों में पढ़ती हैं, परन्तु जो बड़ी उत्सुकता से सन्तति-निग्रह के साहित्य और पत्रिकाओं का अध्ययन करती हैं और जिनके पास उसके साधन भी मौजूद हैं। इन साधनों के प्रयोग को विवाहित स्त्रियों तक सीमित रखना असम्भव है। जब विवाह के उद्देश्य और उच्चतम उपयोग की कल्पना ही पाशविक विकार की तृप्ति हो और यह विचार तक न किया जाय कि इस प्रकार की तृप्ति का कुदरती नतीजा क्या होगा, तब विवाह की सारी पवित्रता नष्ट हो जाती है।

मुझे इसमें जरा भी शक नहीं कि जो विद्वान् पुरुष और स्त्रियाँ मिशनरी उत्साह के साथ कृत्रिम साधनों के पक्ष में आन्दोलन कर रहे हैं, वे देश के युवकों की अपार हानि कर रहे हैं। उनका यह विश्वास झूठा है कि ऐसा करके वे उन गरीब स्त्रियों को संकट से बचा लेंगे, जिन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध मजबूरन् बच्चे पैदा करने पड़ते हैं। जिन्हें बच्चों की संख्या मर्यादित करने की जरूरत है, उसके पास तो इनकी आसानी से पहुँच नहीं होगी। हमारी गरीब औरतों के पास न तो वह ज्ञान होता है और न वह तालीम होती है, जो पश्चिमी स्त्रियों के पास होती

है। अवश्य ही आन्दोलन(केवल)मध्यम श्रेणी की स्त्रियों के लिए नहीं किया जा रहा है, क्योंकि उन्हें इस ज्ञान की उतनी जरूरत नहीं है जितनी निर्धन वर्गों की स्त्रियों को है।

बीज डालकर उपज को रोकना भयंकर मूर्खता

परन्तु सबसे बड़ी हानि, जो यह आन्दोलन कर रहा है, यह है कि पुराना आदर्श छोड़कर यह उसके स्थान पर एक ऐसा आदर्श स्थापित कर रहा है, जिस पर अमल हुआ तो मानव-जाति का नैतिक और शारीरिक विनाश निश्चित है। वीर्य के व्यंर्थ व्यय को प्राचीन साहित्य में जो इतना भयंकर कृत्य माना गया है, वह कोई अज्ञानजन्य अन्धविश्वास नहीं था कोई किसान अगर अपने पास का बढ़िया-से-बढ़िया बीज पथरीली जमीन में बोये या कोई खेत का मालिक बढ़िया जमीनवाले अपने खेत में ऐसी परिस्थितियों में अच्छा बीज डाले जिसमें उसका उगना असम्भव हो, तो उसके लिए क्या कहा जायेगा? भगवान् ने पुरुष को ऊँची-से-ऊँची शक्तिवाला बीज प्रदान किया है। और स्त्री को ऐसा खेत दिया है जिसके बराबर उपजाऊ धरती इस दुनिया में और कहीं नहीं है। अवश्य ही पुरुष की यह भयंकर मूर्खता है कि वह अपनी इस सबसे कीमती सम्पत्ति को व्यर्थ जाने देता है। उसे अपने अत्यन्त मूल्यवान् जवाहरात और मोतियों से भी अधिक सावधानी के साथ इसकी रक्षा करनी चाहिए। इस तरह वह स्त्री भी अक्षम्य मूर्खता करती है, जो अपने जीवोत्पादक क्षेत्र में बीज को नष्ट होने देने के इरादे से ही ग्रहण करती है। वे दोनों ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा के दुरुपयोग के अपराधी माने जायेंगे और जो चीज उन्हें दी गयी है, वह उनसे छीन ली जायेगी।...सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधन पहले भी थे और आगे भी रहेंगे। परन्तु पहले उन्हें काम में लेना पाप समझा जाता था। पाप को पुण्य कहकर उसका गौरव बढ़ाना हमारी पीढ़ी के ही भाग्य में बदा है। मेरे खयाल से कृत्रिम साधनों के हिमायती भारत के युवकों की सबसे

बड़ी कुसेवा यह कर रहे हैं कि उनके दिमागों में वे गलत विचारधारा भर रहे हैं। भारत के युवा स्त्री-पुरुषों को, जिनके हाथ में देश का भाग्य है, इस झूठे देवता से सावधान रहना चाहिए, ईश्वर ने उन्हें जो खजाना दिया है, उसकी रक्षा करनी चाहिए और इच्छा हो तो उसका उसी काम में उपयोग करना चाहिए, जिसके लिए वह बनाया गया है।[६]

मैं यह नहीं मानता कि स्त्री काम-विकार की उतनी ही शिकार बनती है, जितना पुरुष। पुरुष के बनिस्बत स्त्री के लिए आत्म-संयम पालना ज्यादा आसान होता है। मैं मानता हूँ कि इस देश में स्त्री को दी जाने लायक सही शिक्षा यह होगी कि उसे अपने पति को भी 'नहीं' कहने की कला सिखायी जाय, उसे यह सिखाया जाय कि पति के हाथों में केवल विषय-भोग का साधन या गुड़िया बनकर रहना उसका कर्तव्य बिलकुल नहीं है। यदि स्त्री के कर्तव्य हैं तो उसके अधिकार भी हैं।

पहली बात है उसे मानसिक गुलामी से मुक्त करना, उसे अपने शरीर को पवित्र मानने की शिक्षा देना और राष्ट्र तथा मानव-जाति की सेवा की प्रतिष्ठा और गौरव सिखाना। यह मान लेना अनुचित होगा कि भारत की स्त्रियाँ इस गुलामी से कभी छूट ही नहीं सकतीं और इसलिए प्रजोत्पत्ति को रोकने तथा अपनी बची-खुची तन्दुरुस्ती की रक्षा करने के लिए उन्हें कृत्रिम साधनों का उपयोग सिखाने के सिवा दूसरा कोई रस्ता नहीं है।

जिन बहनों का पुण्य-प्रकोप ऐसी स्त्रियों के कष्टों को देखकर जिन्हें इच्छा या अनिच्छा से बच्चे पैदा करने पड़ते हैं—जाग्रत हुआ है, वे उतावली न बनें। कृत्रिम साधनों के पक्ष में किया जानेवाला प्रचार भी वांछित हेतु को एक दिन में सिद्ध नहीं कर देगा। हर पद्धति के लिए लोगों को शिक्षा देना जरूरी होगा। मेरा कहना इतना ही है कि यह शिक्षा सही रास्ते ले जानेवाली होनी चाहिए।[७]

लोगों पर वन्ध्यीकरण (वह क्रिया जिससे पुरुष के वीर्य में निहित प्रजनन-शक्ति का नाश कर दिया जाता है) का कानून लादने को मैं

अमानुषिक मानता हूँ। परन्तु जो व्यक्ति पुराने रोगों के मरीज हों, वे यदि स्वीकार कर लें तो उनका वन्ध्यीकरण वांछनीय होगा। वन्ध्यीकरण(भी)एक प्रकार का कृत्रिम साधन है। यद्यपि मैं स्त्रियों के सम्बन्ध में कृत्रिम साधनों के उपयोग के खिलाफ हूँ, फिर भी मैं पुरुष के सम्बन्ध में स्वेच्छा से किये जानेवाले वन्ध्यीकरण के खिलाफ नहीं हूँ, क्योंकि पुरुष आक्रामक है।[८]

जनसंख्या वृद्धि की दलील भ्रामक है

यदि यह कहा जाय कि जनसंख्या की अतिवृद्धि के कारण कृतिम साधनों द्वारा सन्तति-नियमन की राष्ट्र के लिए आवश्यकता है, तो मुझे इस बात में पूरा शक है। यह बात अब तक साबित ही नहीं की गयी है। मेरी राय में तो यदि जमीन-सम्बन्धी कानूनों में समुचित सुधार कर दिया जाय, खेती की दशा सुधारी जाय और एक सहायक धन्धे की तजबीज कर दी जाय, तो हमारा यह देश अपनी जनसंख्या से दूने लोगों का भरण-पोषण कर सकता है।[९]

हमारा यह छोटा-सा पृथ्वी-मण्डल कुछ समय का बना हुआ खिलौना नहीं है। अनगिनत युगों से यह ऐसा ही चला आ रहा है। जनसंख्या की वृद्धि के भार से उसने कभी कष्ट का अनुभव नहीं किया। तब कुछ लोगों के मन में एकाएक इस सत्य का उदय कहाँ से हो गया कि यदि सन्तति-नियमन के कृत्रिम साधनों से जनसंख्या की वृद्धि को रोका न गया, तो अन्न न मिलने से पृथ्वी-मण्डल का नाश हो जायेगा।[१०]

बढ़ती हुई जनसंख्या का हौवा कोई नयी चीज नहीं है। अकसर वह हमारे सामने खड़ा किया गया है। जनसंख्या की वृद्धि कोई टालने लायक संकट नहीं है, न होना चाहिए। (बल्कि) उसे कृत्रिम उपायों से रोकना एक महान् संकट है, फिर चाहे हम उसे जानते हों या न जानते हों। अगर कृत्रिम उपायों का उपयोग आमतौर पर होने लगे, तो वह समूचे राष्ट्र को पतन की ओर ले जायेगा।...एक ओर हम विषय-भोग

से पैदा होनेवाली अनचाही सन्तति का पाप अपने सिर ओढ़ते हैं, और दूसरी ओर ईश्वर उस पाप को मिटाने के लिए हमें अनाज की तंगी, महामारी और लड़ाई के जरिये सजा करता है। अगर इस तिहरे पाप से बचना हो, तो संयम-रूपी कारगर उपाय के जरिये अनचाही सन्तति को रोकना चाहिए। देखनेवालों को आज भी यह दिखायी पड़ता है कि कृत्रिम उपायों के कैसे बुरे नतीजे होते हैं। नीति की चर्चा में पड़े बिना मैं यही कहना चाहता हूँ कि कुत्ते-बिल्ली की तरह होनेवाली इस सन्तान-वृद्धि को जरूर रोकना चाहिए। लेकिन इस बात का खयाल रखना होगा कि ऐसा करने से उसका ज्यादा बुरा नतीजा न निकले। इस बढ़ती हुई प्रजोत्पत्ति को ऐसे उपायों से रोकना चाहिए, जिनसे जनता ऊपर उठे, यानी इसके लिए जनता को उसके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली तालीम मिलनी चाहिए, जिससे एक शाप के मिटते ही दूसरे सब शाप अपने-आप मिट जायँ। यह सोचकर कि रास्ता पहाड़ी है और उसमें चढ़ाइयाँ हैं, उससे दूर नहीं भागना चाहिए। मनुष्य की प्रगति का मार्ग कठिनाइयों से भरा पड़ा है। उनसे डरना क्या? उनका तो स्वागत करना चाहिए।[११]

१५. शराबखोरी और छुआछूत

यदि मुझे एक घण्टे के लिए भारत का डिक्टेटर बना दिया जाय, तो मेरा पहला काम यह होगा कि शराब की दुकानों को बिना मुआवजा दिये बन्द करवा दिया जाय और कारखानों के मालिकों को अपने मजदूरों के लिए मनुष्योचित परिस्थियाँ निर्माण करने तथा उसके हित में ऐसे उपाहार-गृह और मनोरंजन-गृह खोलने के लिए मजबूर किया जाय, जहाँ मजदूरों को ताजगी देनेवाले निर्दोष पेय और उतने ही निर्दोष मनोरंजन हो सकें।[१]

शराब : चोरी और व्यभिचार दोनों से ज्यादा निंद्य

आपको ऊपर से ठीक दिखायी देनेवाली इस दलील के भुलावे में नहीं आना चाहिए कि शराबबन्दी जोरजबरदस्ती के आधार पर नहीं होनी चाहिए और जो लोग शराब पीना चाहते हैं, उन्हें उसकी सुविधाएँ मिलनी ही चाहिए। राज्य का यह कोई कर्तव्य नहीं है कि वह अपनी प्रजा की कुटेवों के लिए अपनी ओर से सुविधाएँ दे। हम वेश्यालयों को अपना व्यापार चलाने के लिए अनुमति-पत्र नहीं देते। इसी तरह हम चोरों को अपनी चोरी की प्रवृत्ति पूरा करने की सुविधाएँ नहीं देते। मैं शराब को चोरी और व्यभिचार, दोनों से ज्यादा निंद्य मानता हूँ। क्या वह अकसर इन दोनों बुराइयों की जननी नहीं होती?[२]

शराब की लत कुटेव तो है ही, लेकिन कुटेव से भी ज्यादा वह एक बीमारी है। मैं ऐसे बीसियों आदमियों को जानता हूँ, जो यदि वे छोड़ सकें तो शराब पीना बड़ी खुशी से छोड़ दें। मैं ऐसे भी कुछ लोगों को जानता हूँ, जिन्होंने यह कहा है कि शराब उसके सामने न लायी जाय। और जब उसके कहने के अनुसार शराब उसके सामने नहीं लायी गयी, तो मैंने उन्हें लाचार होकर शराब की चोरी करते हुए देखा है। लेकिन इसलिए मैं यह नहीं मानता कि शराब उनके पास से हटा लेना गलत था। बीमारों को अपने आपसे यानी अपनी अनुचित इच्छाओं से लड़ने में हमें मदद देनी ही चाहिए।[३]

शराब की आदत मनुष्य की आत्मा का नाश कर देती है। और उसे धीरे-धीरे पशु बना डालती है। वह पत्नी, माँ और बहन में भेद करना भूल जाता है।[४] शराब और अन्य मादक द्रव्यों से होनेवाली हानि कई अंशों में मलेरिया आदि बीमारियों से होनेवाली हानि की अपेक्षा असंख्य-गुनी ज्यादा है। कारण, बीमारियों से तो केवल शरीर को हानि पहुँचती है जब कि शराब आदि से शरीर और आत्मा, दोनों का नाश हो जाता है।[५]

मैं भारत का गरीब होना पसन्द करूँगा, लेकिन यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि हमारे हजारों लोग शराबी हों। अगर भारत में शराबबन्दी जारी करने के लिए लोगों को शिक्षा देना बन्द करना पड़े तो कोई परवाह नहीं, मैं यह कीमत चुकाकर भी शराबखोरी बन्द करूँगा।[६]

जो राष्ट्र शराब की आदत का शिकार है, कहना चाहिए कि उसके सामने विनाश मुँह बाये खड़ा है। इतिहास में इस बात के कितने ही प्रमाण हैं कि इस बुराई के कारण कई साम्राज्य मिट्टी में मिल गये हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास में, हम जानते हैं कि वह पराक्रमी जाति जिसमें श्रीकृष्ण ने जन्म लिया था, इसी बुराई के कारण नष्ट हो गयी। रोम-साम्राज्य के पतन का एक सहायक कारण निस्सन्देह यह बुराई ही थी।[७]

बीड़ी-सिगरेट की गन्दी आदत

शराब की तरह बीड़ी और सिगरेट के लिए भी मेरे मन में गहरा तिरस्कार है। बीड़ी और सिगरेट को मैं कुटेव ही मानता हूँ। वह मनुष्य की विवेक-बुद्धि को जड़ बना देती है और अकसर शराब से ज्यादा बुरी सिद्ध होती है, क्योंकि उसका परिणाम अप्रत्यक्ष रीति से होता है। यह आदत आदमी को एक बार लग भर जाय, फिर उससे पिण्ड छुड़ाना बहुत कठिन होता है। इसके सिवा वह खर्चीला भी है। वह मुँह को दुर्गन्धयुक्त बनाती है, दाँतों का रंग बिगाड़ती है। और कभी-कभी कैन्सर जैसी भयानक बीमारी को जन्म देती है। वह एक गन्दी आदत है।[८]

एक दृष्टि से बीड़ी और सिगरेट पीना शराब से भी ज्यादा बड़ी बुराई है, क्योंकि इस व्यसन का शिकार उससे होनेवाली हानि को समय रहते अनुभव नहीं करता। वह जंगलीपन का चिह्न नहीं मानी जाती, बल्कि सभ्य लोग तो उसका गुणगान भी करते हैं।[९]

हिन्दुस्तान में (तो) हम लोग तम्बाकू केवल पीते ही नहीं, सूँघते भी हैं और जरदे के रूप में खाते भी हैं।...आरोग्य का पुजारी दृढ़

निश्चय करके सब व्यसनों की गुलामी से छूट जायेगा। बहुतों को इसमें से एक या दो या तीनों व्यसन लगे होते हैं, इसलिए उन्हें इससे घृणा नहीं होती। मगर शान्त चित्त से विचार किया जाय तो तम्बाकू फूँकने की क्रिया से या लगभग सारा दिन जरदे या पान के बीड़े से गाल भरे रखने में या नसवार की डिबिया खोलकर सूँघते रहने में कोई शोभा नहीं है। ये तीनों व्यसन गन्दे हैं।[१०]

अस्पृश्यता का कलंक

आजकल हिन्दू-धर्म में जो अस्पृश्यता देखने में आती है, वह उसका एक अमिट कलंक है। मैं यह मानने से इनकार करता हूँ कि वह हमारे समाज में स्मरणातीत काल से चली आयी है। मेरा खयाल है कि अस्पृश्यता की यह घृणित भावना हम लोगों में तब आयी होगी, जब हम अपने पतन की चरम सीमा पर रहे होंगे। और तब से यह भयंकर अभिशाप है। और यह अभिशाप जब तक हमारे साथ रहेगा, तब तक मुझे लगता है कि इस पावन भूमि में हमें जब जो भी तकलीफ सहनी पड़े, वह हमारे इस अपराध का, जिसे हम आज भी कर रहे हैं, उचित दण्ड होगी।[११]

मेरी राय में हिन्दू-धर्म में दिखायी पड़नेवाला अस्पृश्यता का वर्तमान का रूप ईश्वर और मनुष्य के खिलाफ किया गया भयंकर अपराध है। और इसलिए वह एक ऐसा विष है जो धीरे-धीरे हिन्दू-धर्म के प्राण को ही निःशेष किये दे रहा है। मेरी राय में शास्त्रों में, यदि हम सब शास्त्रों को मिलाकर पढ़ें तो, इस बुराई का कहीं कोई समर्थन नहीं है। शास्त्रों में एक तरह की हितकारी अस्पृश्यता का विधान जरूर है, लेकिन उस तरह की अस्पृश्यता सब धर्मों में पायी जाती है वह अस्पृश्यता तो स्वच्छता के नियम का ही एक अंग है। वह तो सदा रहेगी। लेकिन भारत में हम आज जैसी अस्पृश्यता देख रहे हैं, वह एक भयंकर चीज है और उसके हरएक प्रान्त में, यहाँ तक कि हरएक जिले

में, अलग-अलग कितने ही रूप हैं। उसने अस्पृश्यों और स्पृश्यों दोनों को नीचे गिराया है। उसने करोड़ों मनुष्यों का विकास रोक रखा है, उन्हें जीवन की सामान्य सुविधाएँ भी नहीं दी जातीं। इसलिए इस बुराई को जितनी जल्दी निर्मूल कर दिया जाय, उतना ही हिन्दू-धर्म, भारत और शायद समग्र मानव-जाति के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा।[१२]

यदि हम भारत की आबादी के पाँचवें हिस्से को स्थायी गुलामी की हालत में रखना चाहते हैं और उन्हें जान-बूझकर राष्ट्रीय संस्कृति के फलों से वंचित रखना चाहते हैं, तो स्वराज्य एक अर्थहीन शब्दमात्र होगा। आत्मशुद्धि के इस महान् आन्दोलन* में (तो)हम भगवान् की मदद की आकांक्षा रखते हैं, लेकिन उसकी प्रजा के सबसे ज्यादा सुपात्र अंश को हम मानवता के अधिकारों से वंचित रखते हैं। यदि हम स्वयं मानवीय दया से शून्य हैं, तो उसके सिंहासन के निकट दूसरों की निष्ठुरता से मुक्ति पाने की याचना हम नहीं कर सकते।[१३]

अंस्पृश्ता पुरानी भले हो, वह अनिष्ट है

इस बात से कभी किसी ने इनकार नहीं किया कि अस्पृश्यता एक पुरानी प्रथा है। लेकिन यदि वह एक अनिष्ट वस्तु है, तो उसकी प्राचीनता के आधार पर उसका बचाव नहीं किया जा सकता। यदि अस्पृश्य लोग आर्यों के समाज से बाहर हैं, तो इसमें उस समाज की ही हानि है। और यदि कहा जाय कि आर्यों ने अपनी प्रगति-यात्रा में किसी मंजिल पर किसी वर्ग-विशेष को दण्ड के तौर पर समाज से बहिष्कृत कर दिया था, तो उसके पूर्वजों को किसी भी कारण से दण्डित किया गया हो, परन्तु वह दण्ड उस वर्ग की सन्तान को देते रहने का कोई कारण नहीं हो सकता। अस्पृश्य लोग भी आपस में अस्पृश्यता का जो पालन करते हैं, उससे इतना ही सिद्ध होता है कि किसी अनिष्ट वस्तु को सीमित नहीं रखा जा सकता और उसका घातक प्रभाव सर्वत्र फैल जाता

* स्वतंत्रता-संग्राम। —सं०

है। अस्पृश्यों में भी अस्पृश्यता का होना इस बात के लिए एक अतिरिक्त कारण है कि सुसंस्कृत हिन्दू-समाज को इस अभिशाप से जल्दी-से-जल्दी मुक्त हो जाना चाहिए। यदि अस्पृश्यों को अस्पृश्य इसलिए माना जाता है कि वे जानवरों को मारते हैं और मांस, रक्त, हड्डियाँ और मैला आदि छूते हैं, तब तो हरएक नर्स और डॉक्टर को भी अस्पृश्य माना जाना चाहिए, और इसी तरह मुसलमानों, ईसाइयों और तथाकथित ऊँचे वर्गों के उन हिन्दुओं को भी अस्पृश्य माना जाना चाहिए, जो आहार अथवा बलि के लिए जानवरों की हत्या करते हैं। कसाईखाने, शराब की दुकानें, वेश्यालय आदि बस्ती से अलग होते हैं या होने चाहिए, इसलिए अस्पृश्यों को भी समाज से दूर और अलग रखा जाना चाहिए—यह दलील अस्पृश्यों के खिलाफ लोगों के मन में चले आ रहे उत्कट पूर्वाग्रह को ही बताती है। कसाईखाने और ताड़ी-शराब की दुकानें आदि जरूर बस्ती से दूर तथा अलग होते हैं और होने चाहिए। लेकिन कसाइयों और ताड़ी अथवा शराब के विक्रेताओं को शेष समाज से अलग नहीं रखा जाता है।''

हम आन्तरिक प्रलोभनों तथा मोह में लिप्त हैं और अत्यन्त अस्पृश्य और पापपूर्ण विचारों के प्रवाह हमारे मन में चलते हैं और उसे कलुषित करते हैं। हमें समझना चाहिए कि हमारी कसौटी हो रही है। ऐसी स्थिति में हम अभिमान के आवेश में अपने उन भाइयों के स्पर्श के प्रभाव के बारे में, जिन्हें हम अकसर अज्ञानवश और ज्यादातर तो दुरभिमान के कारण अपने से नीचा समझते हैं, अत्युक्ति न करें। भगवान् के दरबार में हमारी अच्छाई-बुराई का निर्णय इस बात से नहीं किया जायेगा कि हम क्या खाते-पीते रहे हैं या कि हमें किस-किस ने छुआ है, उसका निर्णय तो इस आधार पर किया जायेगा कि हमने किन-किन की सेवा की है। और किसी तरह की है। हमने एक भी दीन-दुखी आदमी की सेवा की होगी, तो हम भगवान् की कृपादृष्टि प्राप्त करेंगे। अमुक वस्तुएँ

न खाने की बात का उपयोग हम कपट-जाल, पाखण्ड और उससे भी अधिक पापपूर्ण कार्यों को छिपाने के लिए नहीं कर सकते। इस आशंका से कि कहीं उनका स्पर्श हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक न हो, हम किसी पतित अथवा गन्दी रहन-सहनवाले भाई-बहन की सेवा से इनकार नहीं कर सकते।[१५]

जिस समाज में भंगी का अलग पेशा माना गया है, वहाँ कोई बड़ा दोष पैठ गया है, ऐसा मुझे तो वर्षों से लगता रहा है। इस जरूरी और तन्दुरुस्ती बढ़ानेवाले काम को सबसे नीच काम पहले-पहल किसने माना, इसका इतिहास हमारे पास नहीं है। जिसने भी माना, उसने हम पर उपकार तो नहीं ही किया। हम सब भंगी हैं, यह भावना हमारे मन में बचपन से ही जम जानी चाहिए, और उसका सबसे आसान तरीका यह है कि जो समझ-बूझकर ज्ञानपूर्वक यह करेगा, वह उसी क्षण से धर्म को निराले ढंग से और सही तरीके से समझने लगेगा।[१६]

१६.वर्णाश्रम और जाति-व्यवस्था

मैं ऐसा मानता हूँ कि हरएक आदमी दुनिया में कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ लेकर जन्म लेता है। इसी तरह हरएक आदमी की कुछ निश्चित सीमाएँ होती हैं, जिन्हें जीतना उसके लिए शक्य नहीं होता। इन सीमाओं के ही अध्ययन और अवलोकन से वर्ण का नियम निष्पन्न हुआ है वह अमुक प्रवृत्तियोंवाले अमुक लोगों के लिए अलग-अलग कार्यक्षेत्रों की स्थापना करता है। ऐसा करके उसने समाज में से अनुचित प्रतिस्पर्द्धा को टाला है। वर्ण का नियम आदमियों की अपनी स्वांभाविक सीमाएँ तो मानता है, लेकिन वह उनमें ऊँचे और नीचे का भेद नहीं मानता। एक ओर तो वह ऐसी व्यवस्था करता है कि हरएक को उसके परिश्रम का फल अवश्य मिल जाय, और दूसरी ओर वह उसे अपने पड़ोसियों पर

भाररूप बनने से रोकता है। यह ऊँचा नियम आज गिर गया है और निन्दा का पात्र बन गया है। लेकिन मेरा विश्वास है कि आदर्श समाज-व्यवस्था का विकास तभी किया जा सकेगा, जब इस नियम के रहस्यों को पूरी तरह समझा जायेगा और उन्हें कार्यान्वित किया जायेगा।[१]

वर्णाश्रम-धर्म बताता है कि दुनिया में मनुष्य का सच्चा लक्ष्य क्या है। उसका जन्म इसलिए नहीं हुआ है कि वह रोज-रोज ज्यादा पैसा इकट्ठा करने के रास्ते खोजे और जीविका के नये-नये साधनों की खोज करे। उसका जन्म तो इसलिए हुआ है कि वह अपनी शक्ति का प्रत्येक अणु अपने निर्माता को जानने में लगाये। इसलिए वर्णाश्रम-धर्म कहता है कि अपने शरीर के निर्वाह के लिए मनुष्य अपने पूर्वजों का ही धन्धा करे। बस, वर्णाश्रम-धर्म का आशय इतना ही है।[२]

जातपाँत के बारे में मैंने बहुत बार कहा है कि आज के अर्थ में मैं जातपाँत को नहीं मानता। यह समाज का 'फालतू अंग' है और तरक्की के रास्ते में रुकावट जैसा है। इसी तरह आदमी-आदमी के बीच ऊँच-नीच का भेद भी मैं नहीं मानता। हम सब पूरी तरह बराबर हैं। लेकिन बराबरी आत्मा की है, शरीर की नहीं। इसलिए यह मानसिक अवस्था की बात है। बराबरी का विचार करने की और उसे जोर देकर जाहिर करने की जरूरत पड़ती है, क्योंकि दुनिया में ऊँच-नीच के भारी भेद दिखायी देते हैं। इस बाहर से दीखनेवाले ऊँच-नीचपन में से हमें बराबरी पैदा करनी है। कोई भी मनुष्य अपने को दूसरे से ऊँचा मानता है, तो वह ईश्वर और मनुष्य, दोनों के सामने पाप करता है। इस तरह जातपाँत जिस हदतक दरजे का फर्क जाहिर करती है, उस हदतक वह बुरी चीज है।

वर्णाश्रम का रोटी-बेटी-व्यवहार से सम्बन्ध नहीं

लेकिन वर्ण को मैं अवश्य मानता हूँ। वर्ण की रचना पीढ़ी-दर-पीढ़ी के धन्धों की बुनियाद पर हुई है। मनुष्य के चार धन्धे सार्वत्रिक

हैं—विद्यादान करना; दुखी को बचाना, खेती तथा व्यापार और शरीर की मेहनत से सेवा। इन्हीं को चलाने के लिए चार वर्ण बनाये गये हैं। यह धन्धे सारी मानव-जाति के लिए समान हैं, पर हिन्दू-धर्म में उन्हें जीवन-धर्म करार देकर उनका उपयोग समाज के सम्बन्धों और आचार-व्यवहार को नियमन में लाने के लिए किया गया है। गुरुत्वाकर्षण के कानून को हम जानें या न जानें, उसका असर तो हम सभी पर होता है। लेकिन वैज्ञानिकों ने उसके भीतर से ऐसी बातें निकाली हैं, जो दुनिया को चौंकानेवाली हैं। इसी तरह हिन्दू-धर्म ने वर्ण-धर्म की तलाश करके और उसका प्रयोग करके दुनिया को चौंकाया है। जब हिन्दू अज्ञान के शिकार हो गये, तब वर्ण के अनुचित उपयोग के कारण अनगिनत जातियाँ बनीं और रोटी-बेटी-व्यवहार के अनावश्यक और हानिकारक बन्धन पैदा हो गये। वर्ण-धर्म का इन पाबन्दियों के साथ कोई नाता नहीं है। अलग-अलग वर्ण के लोग आपस में रोटी-बेटी-व्यवहार रख सकते हैं। चरित्र और तन्दुरुस्ती के खातिर ये बन्धन जरूरी हो सकते हैं। लेकिन जो ब्राह्मण की लड़की से ब्याह करता है, वह वर्णधर्म को नहीं मिटाता।[3]

वर्णाश्रम में आन्तर-जातीय विवाहों या खान-पान का निषेध नहीं है, लेकिन इसमें कोई जोर-जबरस्ती भी नहीं हो सकती। व्यक्ति को इस बात का निश्चय करने की पूरी छूट मिलनी चाहिए कि वह कहाँ शादी करेगा और कहाँ खायेगा।[4]

अस्पृश्यता की बुराई से खीझकर वर्ण-व्यस्था का ही नाश करना उतना ही गलत होगा, जितना कि शरीर में कोई कुरूप-वृद्धि हो जाय तो शरीर का या फसल में ज्यादा घास-पात उगा हुआ दिखे तो फसल का ही नाश कर डालना। इसलिए अस्पृश्यता का नाश तो जरूर करना है। सम्पूर्ण जाति(वर्ण)व्यवस्था को बचाना हो तो समाज में बढ़ी हुई इस हानिकारक बुराई को दूर करना ही होगा। अस्पृश्यता जाति-व्यवस्था

की उपज नहीं है, बल्कि उस ऊँच-नीच-भेद की भावना का परिणाम है, जो हिन्दू-धर्म में घुस गयी है और उसे भीतर-ही-भीतर कुतर रही है। इसलिए अस्पृश्यता के खिलाफ हमारा आक्रमण इस ऊँच-नीच की भावना के खिलाफ ही है। ज्यों ही अस्पृश्यता नष्ट होगी, जाति-व्यवस्था स्वयं शुद्ध हो जायेगी, यानी मेरे सपने के अनुसार वह चार वर्णोंवाली सच्ची वर्ण-व्यवस्था का रूप ले लेगी। ये चारों वर्ण एक-दूसरे के पूरक और सहायक होंगे, उनमें से कोई किसी से छोटा-बड़ा नहीं होगा, प्रत्येक वर्ण हिन्दू-धर्म के शरीर के पोषण के लिए समान रूप से आवश्यक होगा।[५]

आर्थिक दृष्टि से जातिप्रथा का किसी समय बहुत मूल्य था। उसके फलस्वरूप नयी पीढ़ियों को उनके परिवारों में चले आये परम्परागत कला-कौशल की शिक्षा सहज ही मिल जाती थी और स्पर्द्धा का क्षेत्र सीमित बनता था। गरीबी और कंगाली से होनेवाली तकलीफ को दूर करने का वह एक उत्तम इलाज थी। और पश्चिम में प्रचलित व्यापारियों के संघों की संस्था के सारे लाभ उसमें भी मिलते थे। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि वह साहस और आविष्कार की वृत्ति को बढ़ावा नहीं देती थी, लेकिन हम जानते हैं कि वह उनके आड़े भी नहीं आती थी।

वर्णाश्रम-धर्म दुनिया को भारत की अनुपम भेंट

इतिहास की दृष्टि से जातिप्रथा को भारतीय समाज की प्रयोगशाला में किया गया मनुष्य का ऐसा प्रयोग कहा जा सकता है, जिसका उद्देश्य समाज के विविध वर्गों का पारस्परिक अनुकूलन और संयोजन था। यदि हम उसे सफल बना सकें तो दुनिया में आजकल लोभ के कारण जो क्रूर प्रतिस्पर्द्धा और सामाजिक विघटन होता दिखायी देता है, उसके उत्तम इलाज की तरह उसे दुनिया को भेंट में दिया जा सकता है।[६]

१७. स्त्री-शक्ति

अहिंसा की नींव पर रचे गये जीवन की योजना में जितना और जैसा अधिकार पुरुष को अपने भविष्य की रचना का है, उतना और वैसा ही अधिकार स्त्री को भी अपना भविष्य तय करने का है। लेकिन अहिंसक समाज की व्यवस्था में जो अधिकार मिलते हैं, वे किसी-न-किसी कर्तव्य या धर्म के पालन से प्राप्त होते हैं। इसलिए यह भी मानना चाहिए कि सामाजिक आचार-व्यवहार के नियम स्त्री और पुरुष दोनों आपस में मिलकर और राजी-खुशी से तय करें। इन नियमों का पालन करने के लिए बाहर की किसी सत्ता या हुकूमत की जबरदस्ती काम न देगी। स्त्रियों के साथ अपने व्यवहार और बरताव में पुरुषों ने इस सत्य को पूरी तरह पहचाना नहीं है। स्त्री को अपना मित्र या साथी मानने के बदले पुरुष ने अपने को उसका स्वामी माना है· ·पुराने जमाने का गुलाम नहीं जानता था कि उसे आजाद होना है, या कि वह आजाद हो सकता है। औरतों की हालत भी आज कुछ ऐसी ही है। जब उस गुलाम को आजादी मिली तो कुछ समय तक उसे ऐसा मालूम हुआ, मानो उसका सहारा ही जाता रहा। औरतों को यह सिखाया गया है कि वे अपने को पुरुषों की दासी समझें। इसलिए हमारा यह फर्ज है कि स्त्रियों को उनकी मौलिक स्थिति का पूरा बोध करायें और उन्हें इस तरह की तालीम दें, जिससे वे जीवन में पुरुषों के साथ बराबरी के दरजे से हाथ बँटाने लायक बनें।

एक बार मन का निश्चय हो जाने के बाद इस क्रान्ति का काम आसान है। इसलिए इसकी शुरुआत अपने घर से करें। अपनी पत्नियों को मन बहलाने की गुड़िया या भोग-विलास का साधन मानने के बदले उनको सेवा के समान कार्य में अपना सामान्य साथी समझें। इसके लिए

जिन स्त्रियों को स्कूल या कॉलेज की शिक्षा नहीं मिली है, वे अपने पतियों से जितना बन पड़े, सीखें। जो बात पत्नियों के लिए कही है, वही जरूरी परिवर्तन के साथ माताओं और बेटियों के लिए भी समझनी चाहिए।

यह कहने की जरूरत नहीं कि हिन्दुस्तान की स्त्रियों की लाचारी का यह एकतरफा चित्र ही मैंने यहाँ दिया है। मैं भलीभाँति जानता हूँ कि गाँवों में औरतें अपने मर्दों के साथ बराबरी से टक्कर लेती हैं, कुछ मामलों में वे उनसे बढ़ी-चढ़ी हैं और उन पर हुकूमत भी चलाती हैं। लेकिन हमें बाहर से देखनेवाला कोई भी तटस्थ आदमी यह कहेगा कि (कुल मिलाकर) हमारे समूचे समाज में कानून और रूढ़ि की वजह से औरतों को जो दरजा मिला है, उसमें कई खामियाँ हैं। और उन्हें जड़मूल से सुधारने की जरूरत है।...जिस रूढ़ि और कानून के बनाने में स्त्री का कोई हाथ नहीं था और जिसके लिए सिर्फ पुरुष ही जिम्मेदार है, उस कानून और रूढ़ि के जुल्मों ने स्त्री को लगातार कुचला है।[१]

कानून की रचना ज्यादातर पुरुषों द्वारा हुई है। और इस काम को करने में, जिसे करने का जिम्मा मनुष्य ने अपने ऊपर खुद ही उठा लिया है, उसने हमेशा न्याय और विवेक का पालन नहीं किया है। स्त्रियों में नये जीवन का संचार करने के हमारे प्रयत्न का अधिकांश भाग उन दूषणों को दूर करने में खर्च होना चाहिए, जिनका हमारे शास्त्रों ने स्त्रियों के जन्मजात और अनिवार्य लक्षण कहकर वर्णन किया है। इस काम को कौन करेगा और कैसे करेगा? मेरी नम्र राय में इस प्रयत्न की सिद्धि के लिए हमें सीता, दमयन्ती और द्रौपदी जैसी पवित्र और दृढ़ता तथा संयम आदि गुणों से युक्त स्त्रियाँ प्रकट करनी होंगी। यदि हम अपने बीच में ऐसी स्त्रियाँ प्रकट कर सकें, तो इन आधुनिक देवियों को वही मान्यता मिलेगी जो अभी तक शास्त्रों को प्राप्त है। उस हालत में हमारी स्मृतियों में स्त्री-जाति के सम्बन्ध में यहाँ-वहाँ जो

असम्मानसूचक उक्तियाँ मिलती हैं, उन पर हम लज्जित होंगे। ऐसी क्रान्तियाँ हिन्दू-धर्म में प्राचीनकाल में हो चुकी हैं, और भविष्य में भी होंगी और वे हमारे धर्म को ज्यादा स्थायी बनायेंगी।[२]

स्त्री पुरुष की साथिन है, जिसकी बौद्धिक क्षमताएँ पुरुष की जैसी ही क्षमताओं से किसी तरह कम नहीं हैं। पुरुष की प्रवृत्तियों में, उन प्रवृत्तियों के प्रत्येक अंग और उपांग में भाग लेने का उसे अधिकार है, और आजादी तथा स्वाधीनता का उसे उतना ही अधिकार है जितना पुरुष को। जिस तरह पुरुष अपनी प्रवृत्ति के क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान का अधिकारी माना गया है, उसी तरह स्त्री भी अपनी प्रवृत्ति के क्षेत्र में मानी जानी चाहिए। स्त्रियाँ पढ़ना-लिखना सीखें और उसके परिणामस्वरूप यह स्थिति आये, ऐसा नहीं।...यह तो हमारी सामाजिक व्यवस्था की सहज अवस्था ही होनी चाहिए। महज एक दूषित रूढ़ि और रिवाज के कारण बिलकुल ही मूर्ख और नालायक पुरुष भी स्त्रियों से बड़े माने जाते हैं, यद्यपि वे इस बड़प्पन के पात्र नहीं होते और न वह उन्हें मिलना चाहिए। हमारे कई आन्दोलनों की प्रगति हमारे स्त्री-समाज की पिछड़ी हुई हालत के कारण बीच में ही रुक जाती है। इस तरह हमारे किये हुए काम का जैसा और जितना फल आना चाहिए, वैसा और उतना नहीं आता। हमारी दशा उस कंजूस व्यापारी जैसी है, जो अपने व्यापार में पर्याप्त पूँजी नहीं लगाता और इसलिए नुकसान उठाता है।[३]

स्त्रियों के अधिकारों के सवाल पर मैं किसी तरह का समझौता स्वीकार नहीं कर सकता। मेरी राय में उन पर ऐसा कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिए, जो पुरुषों पर न लगाया गया हो। पुत्रों और कन्याओं में किसी तरह का भेद नहीं होना चाहिए। उनके साथ पूरी समानता का व्यवहार होना चाहिए।[४]

(लेकिन) पुरुष और स्त्री की समानता का यह अर्थ नहीं (है) कि वे समान धन्धे भी करें। स्त्री के शस्त्र धारण करने या शिकार करने के खिलाफ कोई कानूनी बाधा (तो) नहीं होनी चाहिए। लेकिन जो काम

पुरुष के करने के हैं, उनसे वह स्वभावतः विरत होगी। प्रकृति ने स्त्री और पुरुष को एक-दूसरे के पूरक के रूप में सिरजा है। जिस तरह उनके आकार में भेद है, उसी तरह उनके कार्य भी मर्यादित हैं।[५]

स्त्री पुरुष समान पर एक नहीं

स्त्री और पुरुष समान दरजे के हैं, परन्तु एक नहीं, उनकी अनोखी जोड़ी है। वे एक-दूसरे की कमी पूरी करनेवाले हैं और दोनों एक-दूसरे का सहारा हैं। यहाँ तक कि एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता। किन्तु यह सिद्धान्त ऊपर की स्थिति में से ही निकल आता है कि पुरुष या स्त्री कोई एक अपनी जगह से गिर जाय तो दोनों का नाश हो जाता है। इसलिए स्त्री-शिक्षा की योजना बनानेवालों को यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए। दम्पति के बाहरी कामों में पुरुष सर्वोपरि है। बाहरी कामों का विशेष ज्ञान उसके लिए जरूरी है। भीतरी कामों में स्त्री की प्रधानता है। इसलिए गृह-व्यवस्था, बच्चों की देखभाल, उनकी शिक्षा वगैरा के बारे में स्त्री को विशेष ज्ञान होना चाहिए। यहाँ किसी को कोई भी ज्ञान प्राप्त करने से रोकने की कल्पना नहीं है। किन्तु शिक्षा का क्रम इन विचारों को ध्यान में रखकर न बनाया गया हो, तो स्त्री-पुरुष दोनों को अपने-अपने क्षेत्र में पूर्णता प्राप्त करने का मौका नहीं मिलता।

मुझे ऐसा लगा है कि हमारी मामूली पढ़ाई में स्त्री या पुरुष किसी के लिए भी अंग्रेजी जरूरी नहीं है। कमाई के खातिर या राजनीतिक कामों के लिए ही पुरुषों को अंग्रेजी भाषा जानने की जरूरत हो सकती है। मैं नहीं मानता कि स्त्रियों को नौकरी ढूँढ़ने या व्यापार करने की झंझट में पड़ना चाहिए इसलिए अंग्रेजी भाषा थोड़ी ही स्त्रियाँ सीखेंगी। और जिन्हें सीखना होगा वे पुरुषों के लिए खोली हुई शालाओं में ही सीख सकेंगी। स्त्रियों के लिए खोली हुई शाला में अंग्रेजी जारी करना हमारी गुलामी की उम्र बढ़ाने का कारण बन जायेगा। यह वाक्य मैंने बहुतों के मुँह से सुना है और बहुत जगह सुना है कि अंग्रेजी भाषा में

भरा हुआ खजाना पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी मिलना चाहिए। मैं नम्रता के साथ कहूँगा कि इसमें कहीं-न-कहीं भूल है। यह तो कोई नहीं कहता कि पुरुषों को अंग्रेजी का खजाना दिया जाय और स्त्रियों को न दिया जाय।

जिसे साहित्य का शौक है वह अगर सारी दुनिया का साहित्य समझना चाहे, तो उसे रोक कर रखनेवाला इस दुनिया में कोई पैदा नहीं हुआ है। परन्तु जहाँ आम लोगों की जरूरतें समझकर शिक्षा का क्रम तैयार किया गया हो, वहाँ ऊपर बताये हुए साहित्य-प्रेमियों के लिए योजना तैयार नहीं की जा सकती। स्त्री या पुरुष को अंग्रेजी भाषा सीखने में अपना समय नहीं लगाना चाहिए। यह बात मैं उनका आनन्द कम करने के लिए नहीं कहता, बल्कि इसलिए कहता हूँ कि जो आनन्द अंग्रेजी शिक्षा पानेवाले बड़े कष्ट से लेते हैं, वह हमें आसानी से मिले। पृथ्वी अमूल्य रत्नों से भरी है। सारे साहित्य-रत्न अंग्रेजी भाषा में ही नहीं हैं। दूसरी भाषाएँ भी रत्नों से भरी हैं। मुझे ये सारे रत्न आम जनता के लिए चाहिए। ऐसा करने के लिए एक ही उपाय है। और वह यह कि हममें से कुछ ऐसी शक्तिवाले लोग वे भाषाएँ सीखें और उसके रत्न हमें अपनी भाषा में दें।[६]

मैं स्त्रियों की समुचित शिक्षा का हिमायती हूँ, लेकिन मैं यह भी मानता हूँ कि स्त्री दुनिया की प्रगति में अपना योग पुरुष की नकल करके या उसकी प्रतिस्पर्द्धा करके नहीं दे सकती। वह चाहे तो प्रतिस्पर्द्धा कर सकती है। लेकिन पुरुष की नकल करके वह उस ऊँचाई तक नहीं उठ सकती, जिस ऊँचाई तक उठना उसके लिए सम्भव है। उसे पुरुष की पूरक बनना चाहिए।[७]

दहेज की प्रथा

यह (दहेज की)प्रथा नष्ट होनी चाहिए। विवाह लड़के-लड़की के माता-पिताओं द्वारा पैसे ले-देकर किया हुआ सौदा नहीं होना चाहिए।

इस प्रथा का जातिप्रथा से गहरा सम्बन्ध है। जब तक (शादी के लिए) चुनाव का क्षेत्र अमुक जाति के इने-गिने लड़कों या लड़कियों तक ही मर्यादित रहेगा, तब तक यह प्रथा भी रहेगी, भले उसके खिलाफ जो भी कहा जाय। यदि इस बुराई का उच्छेद करना हो तो लड़कियों को या लड़कों को या उनके माता-पिताओं को जाति के बन्धन तोड़ने पड़ेंगे। इस सबका मतलब यह है कि चरित्र की ऐसी तालीम की जरूरत है, जो देश के युवकों और युवतियों के मानस में आमूल परिवर्तन कर दे।'

कोई भी युवक, जो दहेज को विवाह की शर्त बनाता है, अपनी शिक्षा को कलंकित करता है, अपने देश को कलंकित करता है और नारी-जाति का अपमान करता है। देश में आजकल बहुतेरे युवक-आन्दोलन चल रहे हैं। मैं चाहता हूँ कि ये आन्दोलन इस किस्म के सवालों को अपने हाथ में लें। ऐसे संगठनों को किसी ठोस सुधार-कार्य का प्रतिनिधि होना चाहिए और यह सुधार-कार्य उन्हें अपने अन्दर से ही शुरू करना चाहिए...दहेज की इस नीचे गिरानेवाली प्रथा के खिलाफ बलवान् लोकमत पैदा करना चाहिए, और जो युवक इस पाप के सोने से अपने हाथ गन्दे करते हैं, उनका समाज से बहिष्कार किया जाना चाहिए। लड़कियों के माता-पिताओं को अंग्रेजी डिग्रियों का मोह छोड़ देना चाहिए, और अपनी कन्याओं के लिए सच्चे और स्त्री-जाति के प्रति सम्मान की भावना रखनेवाले सुयोग्य वरों की खोज में अपनी जाति या प्रान्त के भी तंग दायरे के बाहर जाने में संकोच नहीं करना चाहिए।[१]

१८. मजदूर क्या करें?

भारत के सामने आज दो रास्ते हैं : वह चाहे तो पश्चिम के 'शक्ति ही अधिकार है' वाले सिद्धान्त को अपनाये और चलाये या पूर्व के इस सिद्धान्त पर दृढ़ रहे और उसी की विजय के लिए सारी ताकत लगाये

कि 'सत्य की ही जीत होती है', सत्य में हार कभी है ही नहीं, और ताकतवर तथा कमजोर, दोनों को न्याय पाने का समान अधिकार है। यह चुनाव सबसे पहले मजदूर-वर्ग को करना है। क्या मजदूरों को अपने वेतन में वृद्धि, यदि वैसा सम्भव हो तो भी, हिंसा का आश्रय लेकर करानी चाहिए? उसके दावे कितने भी उचित क्यों न हों, उन्हें हिंसा का आश्रय नहीं लेना चाहिए। अधिकार प्राप्त करने के लिए हिंसा का आश्रय लेना शायद आसान मालूम हो, किन्तु यह रास्ता अन्त में काँटोंवाला सिद्ध होता है, जो लोग तलवार द्वारा जीवित रहते हैं, वे तलवार से ही मरते हैं। तैराक अकसर डूबकर मारता है। यूरोप की ओर देखिए। वहाँ कोई भी सुखी नहीं दिखायी देता, क्योंकि किसी को भी सन्तोष नहीं है। मजदूर पूँजीपति का विश्वास नहीं करता और पूँजीपति को मजदूर में विश्वास नहीं है। दोनों में एक प्रकार की स्फूर्ति और ताकत है, लेकिन वह तो बैलों में भी होती है। बैल भी मरने की हदतक लड़ते हैं। कैसी भी गति प्रगति नहीं है।हमारे पास यह मानने का कोई कारण नहीं है कि यूरोप के लोग प्रगति कर रहे हैं। उनके पास जो पैसा है, उससे यह सूचित नहीं होता कि उनमें कोई नैतिक या आध्यात्मिक सद्‌गुण है। दुर्योधन असीम धन का स्वामी था, लेकिन विदुर या सुदामा की तुलना में वह गरीब ही था। आज दुनिया विदुर और सुदामा की पूजा करती है, लेकिन दुर्योधन का नाम तो उन सब बुराइयों के प्रतीक के रूप में ही याद किया जाता है, जिनसे आदमी को बचना चाहिए।

...पूँजी और श्रम में चल रहे संघर्ष के बारे में आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि गलती अकसर पूँजीपतियों से ही होती है। लेकिन जब मजदूरों को अपनी ताकत का पूरा भान हो जायेगा, तब मैं जानता हूँ कि वे लोग पूँजीपतियों से भी ज्यादा अत्याचार कर सकते हैं। यदि मजदूर मिल-मालिकों की बुद्धि हासिल कर लें, तो मिल-मालिकों को मजदूरों की दी हुई शर्तों पर काम करना पड़ेगा। अगर वे वैसी बुद्धि

प्राप्त कर लें तो मजदूर ही न रहें और मालिक बन जायँ। पूँजीपति केवल पूँजी की ताकत पर नहीं लड़ते, उनके पास बुद्धि और कौशल भी है।

हमारे सामने सवाल यह है : मजदूरों में, उनके मजदूर रहते हुए, अपनी शक्ति और अधिकारों की चेतना आ जाय, उस समय उन्हें किस मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए? अगर उस समय मजदूर अपनी संख्या के बल का यानी पशुशक्ति का आश्रय लें, तो यह उनके लिए आत्मघातक सिद्ध होगा। ऐसा करके वे देश के उद्योगों को हानि पहुँचायेंगे। दूसरी ओर यदि वे शुद्ध न्याय का आधार लेकर लड़ें, और उसे पाने के लिए खुद कष्ट-सहन करें, तो वे अपनी हर कोशिश में न सिर्फ सफल होंगे, बल्कि अपने मालिकों के हृदय का परिवर्तन कर डालेंगे, उद्योगों का ज्यादा विकास करेंगे और अन्त में मालिक और मजदूर, दोनों एक ही परिवार के सदस्यों की भाँति रहने लगेंगे।

मजदूरों के लिए इतना अवश्य हो

मजदूरों की हालत क़े सन्तोषजनक सुधार में निम्नलिखित वस्तुओं का समावेश होना चाहिए :

१. श्रम का समय इतना ही होना चाहिए कि मजदूरों को आराम करने के लिए भी काफी समय बचा रहे।
२. उन्हें अपने शिक्षण की सुविधाएँ मिलनी चाहिए।
३. उनके बच्चों की आवश्यक शिक्षा के लिए तथा वस्त्र और पर्याप्त दूध के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए।
४. मजदूरों के लिए साफ-सुथरे घर होने चाहिए।
५. उन्हें इतना वेतन मिलना चाहिए कि वे बुढ़ापे में अपने निर्वाह के लिए काफी रकम बचा सकें।

अभी तो इनमें से एक भी शर्त पूरी नहीं होती। इस हालत के लिए दोनों ही पक्ष जिम्मेदार हैं। मालिक लोग केवल काम की परवाह करते हैं। मजदूरों का क्या होता है उससे वे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। उनकी

कि 'सत्य की ही जीत होती है', सत्य में हार कभी है ही नहीं, और ताकतवर तथा कमजोर, दोनों को न्याय पाने का समान अधिकार है। यह चुनाव सबसे पहले मजदूर-वर्ग को करना है। क्या मजदूरों को अपने वेतन में वृद्धि, यदि वैसा सम्भव हो तो भी, हिंसा का आश्रय लेकर करानी चाहिए? उसके दावे कितने भी उचित क्यों न हों, उन्हें हिंसा का आश्रय नहीं लेना चाहिए। अधिकार प्राप्त करने के लिए हिंसा का आश्रय लेना शायद आसान मालूम हो, किन्तु यह रास्ता अन्त में काँटोंवाला सिद्ध होता है, जो लोग तलवार द्वारा जीवित रहते हैं, वे तलवार से ही मरते हैं। तैराक अकसर डूबकर मारता है। यूरोप की ओर देखिए। वहाँ कोई भी सुखी नहीं दिखायी देता, क्योंकि किसी को भी सन्तोष नहीं है। मजदूर पूँजीपति का विश्वास नहीं करता और पूँजीपति को मजदूर में विश्वास नहीं है। दोनों में एक प्रकार की स्फूर्ति और ताकत है, लेकिन वंह तो बैलों में भी होती है। बैल भी मरने की हदतक लड़ते हैं। कैसी भी गति प्रगति नहीं है।हमारे पास यह मानने का कोई कारण नहीं है कि यूरोप के लोग प्रगति कर रहे हैं। उनके पास जो पैसा है, उससे यह सूचित नहीं होता कि उनमें कोई नैतिक या आध्यात्मिक सद्गुण है। दुर्योधन असीम धन का स्वामी था, लेकिन विदुर या सुदामा की तुलना में वह गरीब ही था। आज दुनिया विदुर और सुदामा की पूजा करती है, लेकिन दुर्योधन का नाम तो उन सब बुराइयों के प्रतीक के रूप में ही याद किया जाता है, जिनसे आदमी को बचना चाहिए।

...पूँजी और श्रम में चल रहे संघर्ष के बारे में आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि गलती अकसर पूँजीपतियों से ही होती है। लेकिन जब मजदूरों को अपनी ताकत का पूरा भान हो जायेगा, तब मैं जानता हूँ कि वे लोग पूँजीपतियों से भी ज्यादा अत्याचार कर सकते हैं। यदि मजदूर मिल-मालिकों की बुद्धि हासिल कर लें, तो मिल-मालिकों को मजदूरों की दी हुई शर्तों पर काम करना पड़ेगा। अगर वे वैसी बुद्धि

प्राप्त कर लें तो मजदूर ही न रहें और मालिक बन जायँ। पूँजीपति केवल पूँजी की ताकत पर नहीं लड़ते, उनके पास बुद्धि और कौशल भी है।

हमारे सामने सवाल यह है : मजदूरों में, उनके मजदूर रहते हुए, अपनी शक्ति और अधिकारों की चेतना आ जाय, उस समय उन्हें किस मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए? अगर उस समय मजदूर अपनी संख्या के बल का यानी पशुशक्ति का आश्रय लें, तो यह उनके लिए आत्मघातक सिद्ध होगा। ऐसा करके वे देश के उद्योगों को हानि पहुँचायेंगे। दूसरी ओर यदि वे शुद्ध न्याय का आधार लेकर लड़ें, और उसे पाने के लिए खुद कष्ट-सहन करें, तो वे अपनी हर कोशिश में न सिर्फ सफल होंगे, बल्कि अपने मालिकों के हृदय का परिवर्तन कर डालेंगे, उद्योगों का ज्यादा विकास करेंगे और अन्त में मालिक और मजदूर, दोनों एक ही परिवार के सदस्यों की भाँति रहने लगेंगे।

मजदूरों के लिए इतना अवश्य हो

मजदूरों की हालत के सन्तोषजनक सुधार में निम्नलिखित वस्तुओं का समावेश होना चाहिए :

१. श्रम का समय इतना ही होना चाहिए कि मजदूरों को आराम करने के लिए भी काफी समय बचा रहे।
२. उन्हें अपने शिक्षण की सुविधाएँ मिलनी चाहिए।
३. उनके बच्चों की आवश्यक शिक्षा के लिए तथा वस्त्र और पर्याप्त दूध के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए।
४. मजदूरों के लिए साफ-सुथरे घर होने चाहिए।
५. उन्हें इतना वेतन मिलना चाहिए कि वे बुढ़ापे में अपने निर्वाह के लिए काफी रकम बचा सकें।

अभी तो इनमें से एक भी शर्त पूरी नहीं होती। इस हालत के लिए दोनों ही पक्ष जिम्मेदार हैं। मालिक लोग केवल काम की परवाह करते हैं। मजदूरों का क्या होता है इससे वे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। उनकी

सारी कोशिशों का मकसद यही होता है कि पैसा कम-से-कम देना पड़े और काम ज्यादा-से-ज्यादा मिले। दूसरी ओर, मजदूर की कोशिश ऐसी सब युक्तियाँ करने की होती है जिससे पैसा उसे ज्यादा-से-ज्यादा मिले और काम कम-से-कम करना पड़े। परिणाम यह होता है कि यद्यपि मजदूरों के वेतन में वृद्धि होती है, परन्तु काम की मात्रा में कोई सुधार नहीं होता। दोनों पक्षों के सम्बन्ध शुद्ध नहीं बनते और मजदूर लोग अपनी वेतन वृद्धि का समुचित उपयोग नहीं करते।

इन दोनों पक्षों के बीच में एक तीसरा पक्ष खड़ा हो गया है। वह मजदूरों का मित्र बन गया है। ऐसे पक्ष की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। लेकिन यह पक्ष मजदूरों के प्रति अपनी मित्रता का निर्वाह उसी हदतक कर सकेगा, जिस हदतक उनके प्रति उनकी मित्रता स्वार्थ से अछूती होगी।

मजदूर और राजनीति

अब वह समय आ पहुँचा है जब कि मजदूरों का उपयोग कई तरह से शतरंज के प्यादों की तरह करने की कोशिशें की जायेंगी। जो लोग राजनीति में भाग लेने की इच्छा रखते हैं, उन्हें इस सवाल पर विचार करना चाहिए। वे लोग क्या चुनेंगे : अपना हित या मजदूरों की और राष्ट्र की सेवा? मजदूरों को मित्रों की बड़ी आवश्यकता है। वे नेतृत्व के बिना कुछ नहीं कर सकते। देखना यह है कि यह नेतृत्व उन्हें किस किस्म के लोगों से मिलता है, क्योंकि उससे ही मजदूरों की भावी परिस्थितियों का निर्धारण होनेवाला है।[१]

और देशों की तरह भारत में भी मजदूर-जगत् उन लोगों की दया पर निर्भर है, जो सलाहकार और पथप्रदर्शक बन जाते हैं। ये लोग सदा सिद्धान्तपालक नहीं होते और सिद्धान्तपालक होते भी हैं तो हमेशा बुद्धिमान् नहीं होते। मजदूरों को अपनी हालत पर असन्तोष है। असन्तोष के लिए उनके पास पूरे कारण हैं। उन्हें यह सिखाया जा रहा है, और ठीक सिखाया जा रहा है कि अपने मालिकों को धनवान् बनाने का

मुख्य साधन वे ही हैं। राजनीतिक स्थिति भी भारत के मजदूरों को प्रभावित करने लगी है। और ऐसे मजदूर-नेताओं का अभाव नहीं है, जो समझते हैं कि राजनीतिक हेतुओं के लिए हड़तालें करायी जा सकती हैं।

मेरी राय में ऐसे हेतु के लिए मजदूर-हड़तालों का उपयोग करना अत्यन्त गम्भीर भूल होगी। मैं इससे इनकार नहीं करता कि ऐसी हड़तालों से राजनीतिक गरज पूरी की जा सकती है। परन्तु वे अहिंसक असहयोग की योजना में नहीं आतीं। यह समझने के लिए बुद्धि पर बहुत जोर डालने की जरूरत नहीं है कि जब तक मजदूर देश की राजनीतिक स्थिति को समझ न लें और सबकी भलाई के लिए काम करने को तैयार न हों, तब तक मजदूरों का राजनीतिक उपयोग करना बहुत ही खतरनाक बात होगी। इस व्यवहार की उनसे अचानक आशा रखना कठिन है। यह आशा उस वक्त तक नहीं रखी जा सकती, जब तक वे अपनी खुद की हालत इतनी अच्छी न बना लें कि शरीर और आत्मा की जरूरतें पूरी करके सभ्य और शिष्ट जीवन व्यतीत कर सकें।[२]

मजदूर अपनी स्थिति सुधार लें, अधिक जानकार हो जायँ, अपने अधिकारों का आग्रह रखें और जिस माल के तैयार करने में उनका जितना महत्त्वपूर्ण हाथ होता है उसके उचित उपयोग की भी मालिकों से माँग करें। ··मजदूरों के लिए सही विकास यही होगा कि वे अपना दरजा बढ़ायें और आंशिक मालिकों का दरजा प्राप्त करें।

अभी तो हड़तालें मजदूरों की हालत के सीधे सुधार के लिए ही होनी चाहिए और जब उनमें देशभक्ति की भावना पैदा हो जाय, तब अपने तैयार किये हुए माल की कीमतों के नियंत्रण के लिए भी हड़ताल की जा सकती है।

उचित हड़ताल की शर्तें

सफल हड़तालों की शर्तें सीधी-सादी हैं और जब वे पूरी हो जाती हैं तो हड़तालें कभी असफल सिद्ध होनी ही नहीं चाहिए :

१. हड़ताल का कारण न्यायपूर्ण होना चाहिए।
२. हड़तालियों में व्यावहारिक एकमत होना चाहिए।
३. हड़ताल न करनेवालों के विरुद्ध हिंसा काम में नहीं लेनी चाहिए।
४. हड़तालियों में यह शक्ति होनी चाहिए कि संघ के कोष का आश्रय लिये बिना वे हड़ताल के दिनों में अपना पालन-पोषण कर सकें। इसके लिए उन्हें किसी उपयोगी और उत्पादक अस्थायी धन्धे में लगना चाहिए।
५. जब हड़तालियों की जगह लेने के लिए दूसरे मजदूर काफी हों, तब हड़ताल का उपाय बेकार साबित होता है। उस सूरत में अन्यायपूर्ण व्यवहार हो, नाकाफी मजदूरी मिले या ऐसा ही और कोई कारण हो, तो त्यागपत्र ही उसका एकमात्र उपाय है।

उपर्युक्त सारी शर्तें पूरी न होने पर भी सफल हड़तालें हुई हैं। परन्तु इससे तो इतना ही सिद्ध होता है कि मालिक कमजोर थे और उनका अंन्तःकरण अपराधी था।[3]

नाजायज हड़ताल को समर्थन न दें

जाहिर है कि बिना वजनदार कारण के हड़ताल होनी न चाहिए। नाजायज हड़ताल को न तो कामयाबी हासिल होनी चाहिए और न ही किसी हालत में उसे आम जनता की हमदर्दी मिलनी चाहिए। आमतौर पर लोगों को यह मालूम ही नहीं हो सकता कि हड़ताल जायज है या नाजायज, सिवा इसके कि हड़ताल का समर्थन कोई ऐसे लोग करें, जो निष्पक्ष हों और जिन पर आम लोगों का विश्वास हो। हड़ताली खुद अपने मामले में राय देने के हकदार नहीं हैं। इसलिए या तो मामला ऐसे पंच के सुपुर्द करना चाहिए, जो दोनों तरफ के लोगों को मंजूर हो या उसे अदालती फैसले पर छोड़ना चाहिए।...

जब इस तरीके से काम किया जाता है, तो आमतौर पर पब्लिक के सामने हड़ताल का मामला पेश करने की नौबत ही नहीं आती। अलबत्ता,

कभी-कभी यह जरूर होता है कि मगरूर मालिक पंच या अदालत के फैसले को ठुकरा देते हैं, या गुमराह मंजदूर अपनी ताकत के बल मालिक से जबरदस्ती और भी रिआयतें पाने के लिए फैसले को मंजूर करनें से इनकार कर देते हैं। ऐसी हालत में मामला आम जनता के सामने आता है।

...जो हड़ताल माली हालत की बेहतरी के लिए की जाती है, उसमें कभी अन्तिम ध्येय के तौर पर राजनीतिक मकसद की मिलावट नहीं होनी चाहिए। ऐसा करने से राजनीतिक तरक्की कभी नहीं हो सकती। बल्कि होता यह है कि अकंसर हड़तालियों को ही इसका नतीजा भुगतना पड़ता है, चाहे उन हड़तालों का असर आम लोगों की जिन्दगी पर पड़े या न पड़े। सरकार के सामने कुछ दिक्कतें जरूर खड़ी हो सकती हैं, लेकिन उनकी वजह से हुकूमत का काम रुक नहीं सकता।... असल मुसीबत तो गरीबों को झेलनी पड़ती है। ऐसी हड़तालें तो तभी करनी चाहिए, जब इन्साफ कराने के दूसरे सब उचित साधन असफल साबित हो चुके हों।...

राजनीतिक हड़तालें

राजनीतिक हड़तालों की अपनी अलग जगह है और उनको आर्थिक हड़तालों के साथ न तो मिलना चाहिए और न दोनों का आपस में वैसा रिश्ता रखा जाना चाहिए। अहिंसक लड़ाई में राजनीतिक हड़ताल की अपनी एक खास जगह होती है। वे चाहे जब और चाहे जैसे ढंग से नहीं की जानी चाहिए। ऐसी हड़तालें बिलकुल खुली होनी चाहिए और गुण्डाशाही की कोई गुंजाइश न रहनी चाहिए। उनकी वजह से कहीं किसी तरह की हिंसा नहीं होनी चाहिए।[४]

काम छोड़कर बैठ जाना, हड़तालें आदि बेशक बहुत प्रभावशाली साधन हैं, लेकिन उनका दुरुपयोग आसान है। मजदूरों को अपने शक्तिशाली यूनियन बनाकर अपना संगठन कर लेना चाहिए और इन

यूनियनों की सहमति के बिना कभी भी कोई हड़ताल नहीं करनी चाहिए। हड़ताल करने के पहले मिल-मालिकों से बातचीत द्वारा समझौते की कोशिश होनी चाहिए, उसके बिना हड़ताल का खतरा मोल लेना ठीक नहीं। यदि मिल-मालिक झगड़े के निपटारे के लिए पंच-फैसले का आश्रय लें, तो पंचायत की बात जरूर स्वीकार की जानी चाहिए। और पंचों की नियुक्ति हो जाने के बाद दोनों पक्षों को उसका निर्यण समान रूप से जरूर मान लेना चाहिए, भले उन्हें वह पसन्द आया हो या नहीं।[५]

मेरा सर्वत्र यही अनुभव रहा है कि सामान्यत: मालिक की तुलना में मजदूर लोग अपने कर्तव्य ज्यादा ईमानदारी के साथ और ज्यादा परिणामकारी ढंग से पूरे करते हैं, यद्यपि जिस तरह मालिक के प्रति मजदूरों के कर्तव्य होते हैं, उसी तरह मजदूरों के प्रति मालिक के भी कर्तव्य होते हैं। और यही कारण है कि मजदूरों को इस बात की खोज करना आवश्यक हो जाता है कि वे मालिकों से अपनी माँग किस हद तक मनवा सकते हैं। अगर हम यह देखें कि हमें काफी वेतन नहीं मिलता या कि हमें निवास की जैसी सुविधा चाहिए, वैसी नहीं मिल रही है, तो हमें काफी वेतन और समुचित निवास की सुविधा कैसे मिले, इस बात का रास्ता ढूँढ़ना पड़ता है। मजदूरों को कितनी सुख-सुविधा चाहिए, इस बात का निश्चय कौन करे? सबसे अच्छी बात तो यही होगी कि तुम मजदूर लोग खुद यह समझो कि तुम्हारे अधिकार क्या हैं, उन अधिकारों को मालिकों से मनवाने का उपाय क्या है और फिर उन्हें उन लोगों से तुम खुद ही हासिल करो। लेकिन इसके लिए तुम्हारे पास पहले से ली हुई थोड़ी-सी तालीम होनी चाहिए—शिक्षा होनी चाहिए।

मेरी नम्र राय में यदि मजदूरों में काफी संगठन हो और बलिदान की भावना भी हो, तो उन्हें अपने प्रयत्नों में हमेशा सफलता मिल सकती है। पूँजीपति कितने ही अत्याचारी हों, मुझे निश्चय है कि जिनका

मजदूरों से सम्बन्ध है और जो मजदूर-आन्दोलन का मार्गदर्शन करते हैं, खुद उन्हें ही अभी इस बात की कल्पना नहीं है कि मजदूरों की साधन-सम्पत्ति कितनी विशाल है। उनकी साधन-सम्पत्ति सचमुच इतनी विशाल है कि पूँजीपतियों की उतनी कभी हो ही नहीं सकती। अगर मजदूर इस बात को पूरी तरह समझ लें कि पूँजी श्रम का सहारा पाये बिना कुछ नहीं कर सकती, तो उन्हें अपना उचित स्थान तुरन्त ही प्राप्त हो जायेगा।[६]

पूँजी की शक्ति से असहयोग की शक्ति बड़ी है

दुर्भाग्यवश हमारा मन पूँजी की मोहिनी से मूढ़ हो गया है और हम यह मानने लगे हैं कि दुनिया में पूँजी ही सब कुछ है। लेकिन यदि हम गहरा विचार करें तो क्षणमात्र में हमें यह पता चल जायेगा कि मजदूरों के पास जो पूँजी है वह पूँजीपतियों के पास कभी हो ही नहीं सकती।... अंग्रेजी में एक बहुत जोरदार शब्द है—यह शब्द दुनिया की दूसरी भाषाओं में भी है। यह है 'नहीं'। बस, हमने अपनी सफलता के लिए यही रहस्य खोज निकाला है कि जब पूँजीपति मजदूरों से 'हाँ' कहलवाना चाहते हों उस समय यदि मजदूर 'हाँ' न कहकर 'नहीं' कहने की इच्छा रखते हों तो उन्हें निस्संकोच 'नहीं' का ही गर्जन करना चाहिए। ऐसा करने पर मजदूरों को तुरन्त ही इस बात का ज्ञान हो जायेगा कि उन्हें यह आजादी है कि जब वे 'हाँ' कहना चाहें तब 'हाँ' कहें और जब 'नहीं' कहना चाहें तब 'नहीं' कह दें, और यह कि वे पूँजी के अधीन नहीं हैं बल्कि पूँजी को ही उन्हें खुश रखना है। पूँजी के पास बन्दूक और तोप और यहाँ तक कि जहरीले गैस जैसे डरावने अस्त्र भी हैं, तो भी इस स्थिती में कोई फर्क नहीं पड़ सकता है। अगर मजदूर अपनी 'नहीं' की टेक कायम रखें, तो पूँजी अपने उन सब शस्त्रास्त्रों के बावजूद पूरी तरह असहाय सिद्ध होगी। उस हालत में मजदूर प्रत्याक्रमण नहीं करेंगे, बल्कि गोलियाँ और जहरीले गैस की मार सहते हुए भी

झुकेंगे नहीं और अपनी 'नहीं' की टेक पर अडिग रहेंगे। मजदूर अपने प्रयत्न में अकसर असफल होते हैं, उसका कारण यह है कि वे जैसा मैंने कहा है वैसा करके पूँजी का शोधन नहीं करते, बल्कि (मैं खुद मजदूर के नाते ही यह कह रहा हूँ) उस पूँजी को स्वयं हथियाना चाहते हैं और खुद इस शब्द के बुरे अर्थ में पूँजीपति बनना चाहते हैं। और इसलिए पूँजीपतियों को, ज़ो अच्छी तरह संगठित हैं और अपनी जगह मजबूती से डटे हुए हैं, मजदूरों में अपना दरजा पाने के अभिलाषी उम्मीदवार मिल जाते हैं और वे मजदूरों के इस अंश का उपयोग मजदूरों को दबाने के लिए करते हैं। अगर हम लोग पूँजी की इस मोहिनी के प्रभाव में न होते तो हम में से हरएक इस बुनियादी सत्य को आसानी से समझ लेता।[७]

अधिकार और कर्तव्यों की जोड़ी

एक बहुत बड़ी बुराई है जिसने समाज को मुसीबत में डाल रखा है (वह है हकों की लड़ाई)। एक तरफ पूँजीपति और जमींदार अपने हकों की बात करते हैं, दूसरी तरफ मजदूर अपने हकों की। राजा-महाराजा कहते हैं कि हमें शासन करने का दैवी अधिकार मिला हुआ है, तो दूसरी तरफ उनकी रैयत कहती है कि उसे राजाओं के इस हक का विरोध करने का अधिकार है। अगर सब लोग सिर्फ अपने हकों पर ही जोर दें और फर्जों को भूल जायँ, तो चारों तरफ बड़ी गड़बड़ी और अन्धाधुन्धी मच जाय।

अगर हर आदमी हकों पर जोर देने के बजाय अपना फर्ज अदा करे, तो मनुष्य-जाति में जल्दी ही व्यवस्था और अमन का राज्य कायम हो जाय। राजाओं के राज्य करने के दैवी अधिकार जैसी या रैयत के इज्जत से अपने मालिकों का हुक्म मानने के नम्र कर्तव्य जैसी कोई चीज नहीं है। यह सच है कि राजा और रैयत के पैदाइशी भेद मिटने ही चाहिए, क्योंकि वे समाज के हित को नुकसान पहुँचाते हैं। लेकिन

यह भी सच है कि अभी तक कुचले और दबाकर रखे गये लाखों-करोड़ों लोगों के हकों का ढिठाई भरा दावा भी समाज के हित को ज्यादा नहीं तो उतना ही नुकसान जरूर पहुँचाते हैं। उसके इस दावे से दैवी अधिकारों या दूसरे हकों की दुहाई देनेवाले राजा-महाराजा या जमींदारों वगैरह के बनिस्बत करोड़ों लोगों को ही ज्यादा नुकसान पहुँचेगा। ये मुट्ठीभर जमींदार, राजा-महाराजा, या पूँजीपति बहादुरी या बुजदिली से मर सकते हैं, लेकिन उसके मरने से ही सारे समाज का जीवन व्यवस्थित, सुखी और सन्तुष्ट नहीं बन सकता। इसलिए यह जरूरी है कि हम हकों और फर्जों का आपसी सम्बन्ध समझ लें। मैं यह कहने की हिम्मत करूँगा कि जो हक पूरी तरह अदा किये गये फर्ज से नहीं मिलते, वे प्राप्त करने और रखने लायक नहीं हैं। वे दूसरों से छीने गये हक होंगे। उन्हें जल्दी-से-जल्दी छोड़ देने में ही भला है। जो अभागे माँ-बाप बच्चों के प्रति अपना फर्ज अदा किये बिना उनसे अपना हुक्म मनवाने का दावा करते हैं, वे बच्चों की नफरत को ही भड़कायेंगे। जो बदचलन पति अपनी वफदार पत्नी से हर बात मनवाने की आशा करता है, वह धर्म के वचन को गलत समझता है, उसका एकतरफा अर्थ करता है। लेकिन जो बच्चे हमेशा फर्ज अदा करने के लिए तैयार रहनेवाले माँ-बाप को जलील करते हैं, वे कृतघ्न समझे जायेंगे और माँ-बाप के मुकाबले खुद का ज्यादा नुकसान करेंगे। यही बात पति और पत्नी के बारे में भी कही जा सकती है। अगर यह सादा और सब पर लागू होनेवाला कायदा मालिकों और मजदूरों, जमींदारों और किसानों, राजाओं और रैयत, या हिन्दू और मुस्लमानों पर लगाया जाय, तो हम देखेंगे कि जीवन के हर क्षेत्र में अच्छे-से-अच्छे सम्बन्ध कायम किये जा सकते हैं। और, ऐसा करने से न तो हिन्दुस्तान या दुनिया के दूसरे हिस्सों के सामाजिक जीवन या व्यापार में किसी तरह की रुकावट आयेगी और न गड़बड़ी पैदा होगी। मैं जिसे सत्याग्रह

कहता हूँ, वह नियम अपने-अपने फर्जों और उनके पालन से अपने-आप प्रकट होनेवाले हकों के सिद्धान्तों को बराबर समझ लेने का नतीजा है।

१९. शान्ति-सेना

कुछ समय पहले मैंने एक ऐसे स्वयंसेवकों की सेना बनाने की तजबीज रखी थी जो दंगों, खासकर साम्प्रदायिक दंगों को शान्त करने में अपने प्राणों तक की बाजी लगा दे। विचार यह था कि यह सेना पुलिस का ही नहीं, बल्कि फौज तक का स्थान ले लेगी। यह बात बड़ी महत्त्वाकांक्षावाली मालूम पड़ती है। शायद यह असम्भव भी साबित हो। फिर भी, अगर हमें अहिंसात्मक लड़ाई में कामयाबी हासिल करनी हो तो परिस्थितियों का शान्तिपूर्वक मुकाबला करने की अपनी शक्ति हमें बढ़ानी ही चाहिए।

शांति सैनिक की योग्यताएँ

हमें देखना चाहिए कि जिस शान्तिसेना की हमने कल्पना की है, उसके सदस्यों की क्या योग्यताएँ होनी चाहिए :

१. शान्तिसेना का सदस्य पुरुष हो या स्त्री, अहिंसा में उसका जीवित विश्वास होना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब कि ईश्वर में उसका जीवित विश्वास हो। अहिंसक व्यक्ति तो ईश्वर की कृपा और शक्ति के बगैर कुछ कर ही नहीं सकता। इसके बिना उसमें क्रोध, भय और बदले की भावना न रखते हुए मरने का साहस नहीं होगा। ऐसा साहस तो इस श्रद्धा से आता है कि सबके हृदयों में ईश्वर का निवास है, और ईश्वर की उपस्थिति में किसी भी भय की जरूरत नहीं। ईश्वर की सर्वव्यापकता के ज्ञान का यह भी अर्थ है कि जिन्हें विरोधी या गुण्डे कहा जा सकता

हो उन तक के प्राणों का हम खयाल रखें। यह इरादतन् दस्तन्दाजी उस समय मनुष्य के क्रोध को शान्त करने का एक तरीका है, जब कि उसके अन्दर का पशुभाव उस पर हावी हो जाय।

२. शान्ति के इस दूत में दुनिया के सभी खास-खास धर्मों के प्रति समान श्रद्धा होना जरूरी है। इस प्रकार अगर वह हिन्दू हो तो वह हिन्दुस्तान में प्रचलित अन्य धर्मों का भी आदर करेगा। इसलिए देश में माने जानेवाले विभिन्न धर्मों के सामान्य सिद्धान्तों का उसे ज्ञान होना चाहिए।

३. आमतौर पर शान्ति का यह काम केवल स्थानीय लोगों द्वारा अपनी बस्तियों में हो सकता है।

४. यह काम अकेले या समूहों में हो सकता है। इसलिए किसी को संगीसाथियों के लिए इन्तजार करने की जरूरत नहीं है। फिर भी आदमी स्वभावतः अपनी बस्ती में कुछ साथियों को ढूँढ़कर स्थानीय सेना का निर्माण करेगा।

५. शान्ति का यह दूत व्यक्तिगत सेवा द्वारा अपनी बस्ती या किसी चुने हुए क्षेत्र में लोगों के साथ ऐसा सम्बन्ध स्थापित करेगा, जिससे जब उसे भद्दी स्थितियों में काम करना पड़े तो उपद्रवियों के लिए वह बिलकुल ऐसा अजनबी न हो, जिस पर वे शक करें या उन्हें नागवार मालूम पड़े।

६. यह कहने की तो जरूरत ही नहीं कि शान्ति के लिए काम करनेवाले का चरित्र ऐसा होना चाहिए, जिस पर कोई अँगुली न उठा सके और वह अपनी निष्पक्षता के लिए मशहूर हो।

७. आमतौर पर दंगों से पहले तूफान आने की चेतावनी मिल जाया करती है। अगर ऐसे आसार दिखायी दें तो शान्तिसेना आग भड़क उठने तक इन्तजार न करके तभी से परिस्थिति को सँभालने का काम शुरू कर देगी, जब से कि उसकी सम्भावना दिखायी दे।

८. अगर यह आन्दोलन बढ़े तो कुछ पूरे समय काम करनेवाले कार्यकर्ताओं का इसके लिए रहना अच्छा होगा। लेकिन यह बिलकुल जरूरी नहीं कि ऐसा हो ही। खयाल यह है कि जितने भी अच्छे स्त्री–पुरुष मिल सकें, उतने रखे जायँ। लेकिन वे तभी मिल सकते हैं जब कि स्वयंसेवक ऐसे लोगों में से प्राप्त हों जो जीवन के विविध कार्यों में लगे हुए हों, पर उनके पास इतना अवकाश हो कि अपने इलाकों में रहनेवाले लोगों के साथ वे मित्रता के सम्बन्ध पैदा कर सकें तथा उन सब योग्यताओं को रखते हों, जो शान्तिसेना के सदस्य में होनी चाहिए।

९. इस सेना के सदस्यों की एक पोशाक होनी चाहिए, जिससे कालान्तर में उन्हें बिना किसी कठिनाई के पहचाना जा सके। ये सिर्फ आम सूचनाएँ हैं, जिसके आधार पर हरएक केन्द्र अपना विधान बना सकता है।[१]

अहिंसक सेना में चरित्र ही मुख्य है

हिंसक दल में आदमी के चाल–चलन को नहीं देखा जाता। उसके कद और डीलडौल को ही देखा जाता है। ऐसे दलों को चलाने के लिए सजा नहीं, तो सजा का डर होना चाहिए और जरूरत मालूम होने पर सजा दी भी जानी चाहिए। अहिंसक दल में इससे ठीक उलटा होता है। उसमें शरीर की जगह गौण होती है, आत्मा ही सब कुछ होती है यानी चरित्र सब कुछ होता है। ऐसे चरित्रवान् व्यक्ति को पहचानना मुश्किल है। इसलिए बड़े–बड़े शान्तिदल स्थापित नहीं किये जा सकते। वे छोटे ही होंगे। जगह–जगह होंगे, हर गाँव या मुहल्ले में होंगे। मतलब यह कि जो जाने–पहचाने लोग हैं, उन्हीं की टुकड़ियाँ बनेंगी। वे मिलकर अपना एक मुखिया चुन लेंगे। सबका दरजा बराबर होगा। जहाँ एक से ज्यादा आदमी एक ही तरह का काम करते हैं, वहाँ उनमें एकाध ऐसा होना चाहिए, जिसकी आज्ञा के अनुसार सब कोई चल

सकें। ऐसा न हो तो मेलजोल के साथ, सहयोग से, काम नहीं हो सकता। दो या दो से ज्यादा लोग अपने-अपने ढंग से काम करें, तो मुमकिन है कि उनके काम की दिशा एक-दूसरे से उलटी हो। इसलिए जहाँ दो या दो से ज्यादा दल हों, वहाँ वे हिल-मिलकर काम करें तभी काम चल सकता है और उसमें कामयाबी मिल सकती है। इस तरह के शान्तिदल जगह-जगह हों, तो वे आराम से और आसानी से दंगा-फसाद को रोक सकते हैं। ऐसे दलों को अखाड़ों में दी जानेवाली सभी तरह की तालीम देना जरूरी नहीं। उनमें दी जानेवाली कुछ तालीम लेना जरूरी हो सकता है।

सब शान्ति-दलों के लिए एक चीज आम यानी सामान्य होनी चाहिए। शान्तिदल के हरएक सदस्य का ईश्वर में अटल विश्वास होना चाहिए। उसमें यह श्रद्धा होनी चाहिए कि ईश्वर ही सच्चा साथी है और वही सबका सरजनहार है, कर्ता है। इसके बिना जो शान्तिसेनाएँ बनेंगी, मेरे खयाल में वे बेजान होंगी। ईश्वर को आप किसी भी नाम से पुकारें, मगर उसकी शक्ति का उपयोग तो आपको करना ही है। ऐसा आदमी किसी को मारेगा नहीं, बल्कि खुद मरकर मृत्यु पर विजय पायेगा और जी जायेगा।

शांति सेना के लिए सुझाव

जिस आदमी के लिए यह कानून एक जीती-जागती चीज बन जायेगा, उसको समय के अनुसार बुद्धि भी अपने-आप सूझती रहेगी।

फिर भी अपने तजरबे से मैं यहाँ कुछ नियम देता हूँ :

१. सेवक अपने साथ कोई भी हथियार न रखे।
२. वह अपने बदन पर कोई ऐसी निशानी रखे, जिससे फौरन् पता चले कि वह शान्तिदल का सदस्य है।
३. सेवक के पास घायलों वगैरा की सार-सँभाल के लिए तुरत काम देनेवाली चीजें रहनी चाहिए। जैसे पट्टी, कैंची, छोटा चाकू, सूई वगैरा।

४. सेवक को ऐसी तालीम मिलनी चाहिए, जिससे वह घायलों को आसानी से उठाकर ले जा सके।

५. जलती आग को बुझाने की, बिना जले या बिना झुलसे आगवाली जगहों में जाने की, ऊपर चढ़ने की और उतरने की कला सेवक में होनी चाहिए।

६. अपने मुहल्ले के सब लोगों से उसकी अच्छी जान-पहचान होनी चाहिए। यह ख़ुद ही अपने-आप में एक सेवा है।

७. उसे मन-ही-मन राम-नाम का बराबर जप करते रहना चाहिए और इसमें माननेवाले दूसरों को भी ऐसा करने के लिए समझाना चाहिए।

कुछ लोग आलस्य की वजह से या झूठी आदत की वजह से यह मान बैठते हैं कि ईश्वर तो है ही और वह बिना माँगे मदद करता है, फिर उसका नाम रटने से क्या फायदा? हम ईश्वर की हस्ती को कबूल करें, इससे उसकी हस्ती में कोई कमी-बेशी नहीं होती, यह सच है। फिर भी उस हस्ती का उपयोग तो अभ्यासी ही कर पाता है। हरएक भौतिकशास्त्र के लिए यह बात सौ फीसदी सच है, तो फिर अध्यात्म के लिए तो यह उससे भी ज्यादा सच होनी चाहिए।...सेवक में इस सचाई को अपने जीवन में सिद्ध करने की ताकत होनी चाहिए।[२]

कायरता का इलाज शारीरिक तालीम में नहीं, बल्कि जो भी खतरे आयें उनका मुकाबला बहादुरी के साथ करने में है। जब तक मध्यम वर्ग के लोग जो खुद डरपोक होते हैं, ज्यादा लाड़-प्यार द्वारा अपने जवान लड़कों-बच्चों को नाजुक बनाना और इस तरह अपना डरपोकपन उनमें भरना जारी रखते हैं, तब तक उनके खतरा टालने और किसी भी तरह की जोखिम से बचने की वृत्ति पायी जाती है, वह भी जारी रहेगी। इसलिए उन्हें अपने लड़कों को अकेला छोड़ने का साहस करना चाहिए, उन्हें खतरे में पड़ने देना चाहिए, और ऐसा करते हुए यदि वे

मर जाते हैं तो मर जाने देना चाहिए। शरीर से कमजोर किसी बौने आदमी में भी शेर का दिल हो सकता है। और बहुत हट्टे-कट्टे जुलू* भी अंग्रेज लड़कों के सामने काँपने लग जाते हैं। हरएक गाँव को अपनी बस्ती में ऐसे शेर दिल व्यक्ति ढूँढ़ निकालने चाहिए।[3]

जिन लोगों को गुण्डा माना जाता है, उनसे हमें जान-पहचान करनी चाहिए। शान्ति का साधन अपने आसपास समाज के किसी अंग को ऐसे रहने नहीं देगा। सबके साथ मीठा सम्बन्ध बाँधेगा, सबकी सेवा करेगा। गुण्डे लोग आकाश से तो नहीं उतरते। भूत की तरह जमीन के पेट में से भी नहीं निकलते। उनकी उत्पत्ति समाज की कुव्यवस्था से ही होती है। इसलिए समाज उनके लिए जिम्मेदार है। गुण्डों को समाज का बीमार या एक प्रकार का दूषित अंग समझना चाहिए। ऐसा मानकर उस बीमारी के कारण ढूँढ़ने चाहिए। कारण हाथ लगने पर बाद में इलाज किया जा सकता है। अब तक तो इस दिशा में प्रयत्न तक नहीं किया गया। 'जागे तभी सबेरा' इस सुभाषित के अनुसार यह प्रयत्न अब शुरू कर देना चाहिए।...सब अपनी-अपनी जगह कोशिश करें। ऐसी कोशिशों की सफलता में ही इस सवाल का जवाब समाया हुआ है।[4]



* दक्षिण अफ्रीका की एक तगड़ी जाति।—सं०

खण्ड : ३

आह्वान

२०. सत्याग्रह

कोई भी मनुष्य की बनायी हुई संस्था ऐसी नहीं है जिसमें खतरा न हो। संस्था जितनी बड़ी होगी, उसके दुरुपयोग की सम्भावनाएँ भी उतनी ही बड़ी होंगी। लोकतंत्र एक बड़ी संस्था है, इसलिए उसका दुरुपयोग भी बहुत हो सकता है। लेकिन उसका इलाज लोकतंत्र से बचना नहीं, बल्कि दुरुपयोग की सम्भावना को कम-से-कम करना है।[१]

अगर हम लोकशाही की सच्ची भावना का विकास करना चाहते हैं, तो हम असहिष्णु नहीं हो सकते। असहिष्णुता बताती है कि अपने ध्येय की सचाई में हमारा पूरा विश्वास नहीं है।[२]...

...हम अपने लिए स्वतंत्रतापूर्वक अपना मत प्रकट करने और कार्य करने के अधिकार का दावा करते हैं, तो यही अधिकार हमें दूसरों को भी देना चाहिए। बहुसंख्यक दल का शासन, जब वह लोगों के साथ ज़बरदस्ती करने लगता है, तब उतना ही असह्य हो उठता है, जितना किसी अल्पसंख्यक नौकरशाह का। हमें अल्पसंख्यकों को अपने पक्ष में धीरज के साथ, समझा-बुझाकर और दलील करके ही लाने की कोशिश करनी चाहिए।[३]

बहुसंख्यक दल का शासन अमुक हद तक जरूर माना जाना चाहिए। यानी, ब्योरे की बातों में हमें बहुसंख्यक दल का निर्णय स्वीकार कर लेना चाहिए। लेकिन उसके निर्णय कुछ भी क्यों न हों, उन्हें हमेशा स्वीकार कर लेना गुलामी का चिह्न है। लोकशाही किसी

ऐसी स्थिति का नाम नहीं है, जिसमें लोग भेड़ों की तरह व्यवहार करें। लोकशाही में व्यक्ति के मत-स्वातंत्र्य और कार्य-स्वातंत्र्य की रक्षा अत्यन्त सावधानी से की जाती है, और की जानी चाहिए। इसलिए मैं यह विश्वास करता हूँ कि अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों से अलग ढंग से चलने का पूरा अधिकार है।[४]

अगर व्यक्ति का महत्त्व न रहे, तो समाज में भी क्या सत्त्व रह जायेगा? वैयक्तिक स्वतंत्रता ही मनुष्य को समाज की सेवा के लिए स्वेच्छापूर्वक अपना पूरा अर्पण करने की प्रेरणा दे सकती है। यदि उससे यह स्वतंत्रता छीन ली जाय, तो वह एक जड़यंत्र जैसा हो जाता है और समाज की बरबादी होती है। वैयक्तिक स्वतंत्रता को अस्वीकार करके कोई सभ्य समाज नहीं बनाया जा सकता।[५]

सविनय कानून भंग जन्मसिद्ध अधिकार है

सविनय अवज्ञा नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है। वह अपने इस अधिकार को अपना मनुष्यत्व खोकर ही छोड़ सकता है। सविनय अवज्ञा का परिणाम कभी भी अराजकता में नहीं आ सकता। दुष्ट हेतु से की गयी अवज्ञा से अराजकता पैदा हो सकती है। दुष्ट हेतु से की जानेवाली अवज्ञा को हरएक राज्य बलपूर्वक अवश्य दबायेगा। यदि वह उसे नहीं दबायेगा तो वह खुद नष्ट हो जायेगा। किन्तु सविनय अवज्ञा को दबाने का अर्थ तो अन्तरात्मा की आवाज को दबाने की कोशिश करना है।[६]

मेरी यह दृढ़ धारणा है कि सविनय कानून-भंग वैधानिक आन्दोलन का शुद्धतम रूप है। बेशक, उसमें विनय और अहिंसा की जिस विशिष्टता का दावा किया जाता है, वह यदि दूसरों को धोखा देने के लिए ओढ़ लिया गया झूठा आवरण-मात्र हो, तो वह लोगों को गिराता है और निन्दनीय बन जाता है।[७]

शुद्ध सत्याग्रह की कसौटी

कानून की अवज्ञा सच्चे भाव से और आदरपूर्वक की जाय, उसमें किसी प्रकार की उद्धतता न हो और वह किसी ठोस सिद्धान्त पर आधारित हो तथा उसके पीछे द्वेष या तिरस्कार का लेश भी न हो—यह आखिरी कसौटी सबसे ज्यादा महत्त्व की है—तो ही उसे शुद्ध सत्याग्रह कहा जा सकता है।[८]

कानून की सविनय अवज्ञा में केवल वे लोग ही हिस्सा ले सकते हैं, जो राज्य द्वारा लादे गये कष्टप्रद कानूनों का—अगर वे उनकी धर्म-बुद्धि या अन्तःकरण को चोट न पहुँचाते हों तो—स्वेच्छापूर्वक पालन करते हैं और जो इस तरह की गयी अवज्ञा का दण्ड भी उतनी ही खुशी से भोग के लिए तैयार हों। कानून की अवज्ञा सविनय तभी कही जा सकती है जब वह पूरी तरह अहिंसक हो। सविनय अवज्ञा के पीछे सिद्धान्त यह है कि प्रतिपक्षी को खुद कष्ट सहकर यानी प्रेम द्वारा जीता जाय।[९]

चूँकि सत्याग्रह सीधी कार्रवाई के अत्यन्त बलशाली उपायों में से एक है, इसलिए सत्याग्रह का आश्रय लेने से पहले और सब उपाय आजमाकर देख लेता है। इसके लिए वह सदा और निरन्त सत्ताधारियों के पास जायेगा, लोकमत को प्रभावित और शिक्षित करेगा, जो उसकी सुनना चाहते हैं उन सबके सामने अपना मामला शान्ति और ठण्डे दिमाग से रखेगा और जब ये सब उपाय वह आजमा चुकेगा तभी सत्याग्रह का आश्रय लेगा। परन्तु जब उसे अन्तर्नाद की प्रेरक पुकार सुनायी देती है और वह सत्याग्रह छेड़ देता है, तब वह अपना सब कुछ दाँव पर लगा देता है और पीछे कदम नहीं हटाता।[१०]

सत्याग्रह में हिंसा का सम्पूर्ण बहिष्कार

सत्याग्रह शब्द का उपयोग अकसर बहुत शिथिलतापूर्वक किया जाता है और छिपी हुई हिंसा को भी यह नाम दे दिया जाता है। लेकिन

इस शब्द के रचयिता के नाते मुझे यह कहने की अनुमति मिलनी चाहिए कि उसमें छिपी हुई अथवा प्रकट सभी प्रकार की हिंसा का, फिर वह कर्म की हो या मन और वाणी की हो, पूरा बहिष्कार है। प्रतिपक्षी का बुरा चाहना या उसे हानि पहुँचाने के इरादे से उससे या उसके बारे में बुरा बोलना सत्याग्रह का उल्लंघन है। सत्याग्रह एक सौम्य वस्तु है, वह कभी चोट नहीं पहुँचाता। उसके पीछे क्रोध या द्वेष नहीं होना चाहिए। उसमें शोरगुल, प्रदर्शन या उतावली नहीं होती है। वह जबरदस्ती से बिलकुल उलटी चीज है। उसकी कल्पना हिंसा से उलटी, परन्तु हिंसा का स्थान पूरी तरह भर सकनेवाली चीज के रूप में की गयी है।[११]

मैंने असंख्य बार कहा है कि सत्याग्रह में हिंसा, लूटमार, आगजनी आदि के लिए कोई स्थान नहीं है, लेकिन इसके बावजूद हमने मकान जलाये हैं, बलपूर्वक हथियार छीने हैं, लोगों को डरा-धमका कर उनसे पैसा लिया है, रेलगाड़ियाँ रोकी हैं, तार काटे हैं, निर्दोष आदमियों की हत्या की है और दुकानों तथा लोगों के निजी घरों में लूटमार की है। इस तरह के कामों से मुझे जेल या फाँसी के तख्ते से बचाया जा सकता है तो भी मैं इस तरह बचाया जाना पसन्द नहीं करूँगा।[१२]

हिंसा के उपायों के प्रयोग से मुझे तो भारत के लिए नाश के सिवा और कुछ नजर नहीं आता। अगर लोग अपना गुस्सा देश में प्रचलित कानून को दुष्ट भाव से तोड़कर प्रकट करें, तो मैं कहूँगा कि वे आत्मघात कर रहे हैं। और भारत को उसके फलस्वरूप अवर्णनीय कष्ट भोगने पड़ेंगे। जब मैंने सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा का प्रचार शुरू किया तो उसका यह उद्देश्य कदापि नहीं था कि उसमें कानूनों की दुष्ट भाव से की जानेवाली उद्धत अवज्ञा का भी समावेश होगा। मेरा अनुभव मुझे सिखाता है कि सत्य का प्रचार हिंसा द्वारा कभी नहीं किया जा सकता। जिन्हें अपने ध्येय के औचित्य में विश्वास है, असीम धीरज

होना चाहिए। और कानून की सविनय अवज्ञा के लिए केवल वे ही व्यक्ति योग्य माने जा सकते हैं, जो अविनय अवज्ञा (क्रिमिनल डिसओबीडियन्स) या हिंसा किसी तरह कर ही न सकते हों। जिस तरह कोई आदमी एक ही समय में संयत और कुपित (दोनों) नहीं हो सकता, उसी तरह कोई सविनय अवज्ञा और अविनय अवज्ञा, दोनों एक साथ नहीं कर सकता। और जिस तरह आत्मसंयम की शक्ति अपने मनोविकारों पर पूरा नियंत्रण पा चुकने के बाद ही आती है, उसी तरह तब हम देश के कानूनों का खुशी से और पूरा-पूरा पालन करना सीख चुके हों, तभी हम उनकी सविनय अवज्ञा करने की योग्यता प्राप्त करते हैं। फिर, जिस तरह किसी आदमी को हम प्रलोभनों की पहुँच के ऊपर तभी कह सकते हैं जब कि वह प्रलोभनों से घिरा रहा हो और फिर भी उनका निवारण कर सका हो, उसी तरह हमने क्रोध को जीत लिया है, ऐसा तभी कहा जा सकता है जब क्रोध का काफी कारण होने पर भी हम अपने ऊपर काबू रखने में कामयाब सिद्ध हों।[१३]

धरना या घेराव

कुछ लोगों ने धरना देने के पुराने जंगलीपन को फिर से जिन्दा किया है। मैं इसे 'जंगलीपन' इसलिए कहता हूँ कि यह दबाव डालने का भद्दा ढंग है। इसमें कायरता भी है, क्योंकि जो धरना देता है वह जानता है कि उसे कुचल कर कोई नहीं जायेगा। इस कृत्य को हिंसात्मक कहना तो कठिन है, मगर वह इससे भी बदतर जरूर है। अगर हम अपने विरोधी से लड़ते हैं तो कम-से-कम उसे बदले में वार करने का मौका तो देते हैं। लेकिन जब हम उसे अपने को कुचल कर निकालने की चुनौती देते हैं—यह जानते हुए कि ऐसा नहीं करेगा—तब हम उसे एक अत्यन्त विषम और अपमानजनक स्थिति में रख देते हैं। मैं जानता हूँ कि धरना देने के अत्यधिक जोश में (यह) कभी सोचा भी नहीं (गया) होगा कि यह कृत्य जंगलीपन है। परन्तु जिससे यह

आशा की जाती है कि वह अन्तःकरण की आवाज पर चलेगा और भारी विपत्तियों का अकेले सामना करेगा, वह विचारहीन नहीं बन सकता। इसलिए असहयोगियों को हर काम में पहले से ही सचेत रहना चाहिए। उनके काम में कोई अधीरता, कोई जंगलीपन, कोई गुस्ताखी और अनुचित दबाव नहीं होना चाहिए।[१४]

व्यक्तिवाद और व्यक्तिगत स्वंत्रता का अन्तर

शासन के खिलाफ विवेकरहित विरोध चलाया जाय तो उससे अराजंकता की, अनियंत्रित स्वच्छंदता की स्थिति पैदा होगी और समाज अपने ही हाथों अपना नाश कर डालेगा।[१५]...व्यक्तिगत स्वतंत्रता की मैं कदर करता हूँ लेकिन आपको यह हरगिज नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य मूलतः एक सामाजिक प्राणी ही है। सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के अनुसार अपने व्यक्तित्व को ढालना सीखकर ही वह वर्तमान स्थिति तक प्रहुँचा है। अबोध व्यक्तिवाद वन्य पशुओं का नियम है। हमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक संयम के आगे स्वेच्छापूर्वक सिर झुकाने से व्यक्ति और समाज, जिसका कि वह एक सदस्य है, दोनों का ही कल्याण होता है।...जन्मजात लोकतंत्रवादी वह होता है, जो जन्म से ही अनुशासन का पालन करनेवाला हो। लोकतंत्र स्वाभाविक रूप में उसी को प्राप्त होता है, जो साधारण रूप में अपने को मानवी तथा दैवी सभी नियमों का स्वेच्छापूर्वक पालन करने का अभ्यास बना ले...जो लोग लोकतंत्र के इच्छुक हैं उन्हें चाहिए कि पहले वे लोकतंत्र की इस कसौटी पर अपने को परख लें। इसके अलावा, लोकतंत्रवादी को निःस्वार्थ भी होना चाहिए। उसे अपनी या अपने दल की दृष्टि से नहीं बल्कि एकमात्र लोकतंत्र की ही दृष्टि से सब-कुछ सोचना चाहिए। तभी वह सविनय अवज्ञा का अधिकारी हो सकता है।[१६]

कानून की सविनय अवज्ञा की पूर्ववर्ती अनिवार्य शर्त यह है कि उसमें इस बात का पूरा आश्वासन होना चाहिए कि अवज्ञा आन्दोलन

में भाग लेनेवालों की ओर से या आम जनता की ओर से कहीं कोई हिंसा नहीं होगी। हिंसक उपद्रव होने पर यह कहना कि उसके पीछे राज्य का या अवज्ञाकारियों का विरोध करनेवाले दूसरे दलों का हाथ है, उचित उत्तर नहीं है। जाहिर है कि सविनय अवज्ञा का आन्दोलन हिंसा के वातावरण में नहीं पनप सकता। इसका यह मतलब नहीं कि ऐसी स्थिति में सत्याग्रही के पास फिर कोई उपाय ही नहीं रह जाता। उसे सविनय अवज्ञा से भिन्न दूसरे उपायों की खोज करनी चाहिए।[१७]

उपवास

उपवास सत्याग्रह के शस्त्रागार का एक अत्यन्त शक्तिशाली अस्त्र है। उसे हर कोई नहीं कर सकता। केवल शारीरिक योग्यता इसके लिए कोई योग्यता नहीं है। ईश्वर में जीती जागती श्रद्धा न हो तो दूसरी योग्याताएँ निरुपयोगी हैं। वह निरा यांत्रिक प्रयत्न या अनुकरण कभी नहीं होना चाहिए। उसकी प्रेरणा अपनी अन्तरात्मा की गहराई से आनी चाहिए। इसलिए वह बहुत विरल होता है।[१८]

(यहाँ) मैं एक सामान्य सिद्धान्त का उल्लेख करना चाहूँगा। सत्याग्रही को उपवास अन्तिम उपाय के तौर पर ही करना चाहिए, यानी तब जब कि अपनी शिकायत दूर करवाने के और सब उपाय विफल हो गये हों। उपवास में अनुकरण के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। जिसमें आन्तरिक शक्ति न हो, उसे उपवास का विचार भी नहीं करना चाहिए। उपवास सफलता की आसक्ति रखकर कभी न किया जाय। जिसमें उपवास का तत्त्व नहीं होता ऐसे उपहासास्पद उपवास बीमारी की तरह फैलते हैं और हानिकारक सिद्ध होते हैं।[१९]

शुद्ध उपवास में स्वार्थ, क्रोध, अविश्वास या अधीरता के लिए कोई जगह नहीं हो सकती।...अपार धीरज, दृढ़ता, ध्येय में एकाग्र-निष्ठा, और पूर्ण शान्ति तो उपवास करनेवाले में होनी चाहिए। ये सब गुण किसी व्यक्ति में एकाएक नहीं आ सकते, इसलिए जिसने यम-नियमादि

का पालन करके अपना जीवन शुद्ध न कर लिया हो, उसे सत्याग्रह के हेतु से किया जानेवाला उपवास नहीं करना चाहिए।[२०]

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उपवासों में बलात्कार का तत्त्व कभी-कभी जरूर हो सकता है। कोई स्वार्थपूर्ण उद्देश्य प्राप्त करने के लिए किये जानेवाले उपवासों में यह बात होती है। किसी व्यक्ति से उसकी इच्छा के खिलाफ पैसा खींचने या ऐसा कोई वैयक्तिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिए किया गया उपवास अनुचित दबाव डालना या बलात्कार प्रयोग करना ही कहा जायेगा। मेरे खिलाफ किये गये उपवासों में—अथवा जब मुझे अपने खिलाफ उपवास करने की धमकियाँ दी गयी हैं तब—मैंने उसमें रहे अनुचित दबाव का सफल प्रतिरोध किया है। अगर यह कहा जाय कि स्वार्थपूर्ण और स्वार्थहीन प्रयोजनों की विभाजक रेखा बहुत अस्पष्ट है और इसलिए उनका ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता, तो मेरी सलाह यह है कि जो आदमी किसी उपवास के उद्देश्यों को स्वार्थपूर्ण या अन्यथा निन्दनीय मानता है, उसे उस उपवास के सामने झुकने से दृढ़तापूर्वक इनकार कर देना चाहिए, चाहे इस कारण उपवास करनेवाले की मृत्यु ही क्यों न हो जाय।

यदि लोग ऐसे उपवासों की उपेक्षा करने लग जायँ, तो उनके मतानुसार अनुचित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किये गये हों, तो इन उपवासों में बलत्कार या अनुचित दबाव का जो दोष पाया जाता है उससे वे मुक्त हो जायेंगे। दूसरी मनुष्यकृत कार्य-प्रणालियों की तरह उपवास के भी उचित और अनुचित दोनों किस्म के उपयोग हो सकते हैं।[२१]

सत्याग्रह की सही तालीम

हमें उन हजारों-लाखों लोगों को, जिनका हृदय सोने का है, जिन्हें देश से प्रेम है, जो सीखना चाहते हैं और यह इच्छा रखते हैं कि कोई उनका नेतृत्व करे, सही तालीम देनी चाहिए। केवल थोड़े से बुद्धिमान्

और निष्ठावान् कार्यकर्ताओं की जरूरत है। वे मिल जायँ तो सारे राष्ट्र को बुद्धिपूर्वक काम करने के लिए संघटित किया जा सकता है तथा भीड़ की अराजकता की जगह सही प्रजातंत्र का विकास किया जा सकता है।[२२]

मैं खुद तो सरकार की नाराजी (क्रोध) की उतनी परवाह नहीं करता, जितनी भीड़ की नाराजगी (क्रोध) की। भीड़ की मनमानी राष्ट्रीय बीमारी का लक्षण है। और इसलिए सरकार की नाराजगी की—जो कि अल्पकाय संघ तक ही सीमित होती है—तुलना में उससे निपटना ज्यादा मुश्किल है। ऐसी किसी सरकार को जिसने अपने को शासन के लिए अयोग्य सिद्ध कर दिया हो, अपदस्थ करना आसान है, लेकिन किसी भीड़ में शामिल अनजाने आदमियों का पागलपन दूर करना ज्यादा कठिन है।[२३]

(लेकिन यह भी सच है कि) भीड़ को अनुशासन सिखने से ज्यादा आसान और कुछ नहीं है। कारण सीधा है। भीड़ कोई काम बुद्धिपूर्वक नहीं करती, उसकी कोई पहले से सोची हुई योजना नहीं होती। भीड़ के लोग जो कुछ करते हैं सो आवेश में करते हैं। अपनी गलती के लिए पश्चाताप भी वे जल्दी करते हैं।[२४]

सरकार की ओर से या प्रजा की ओर से आतंकवाद चलाया जा रहा हो, तब लोकशाही की भावना की स्थापना करना असम्भव है और कुछ अंशों में सरकारी आतंकवाद की तुलना में प्रजाकीय आतंकवाद लोकशाही की भावना के प्रसार का ज्यादा बड़ा शत्रु है।[२५]

राजसत्ता की वृद्धि खतरनाक है

वास्तव में तो (सच्चा लोकतंत्र स्थापित हो जाने पर यानी) जब राजसत्ता जनता के हाथ में आ जाती है, तब प्रजा की आजादी में होनेवाले हस्तक्षेप की मात्रा कम-से-कम होती जाती है। दूसरे शब्दों में, जो अपना काम राज्य के हस्तक्षेप के बिना ही शान्तिपूर्वक और

प्रभावपूर्ण ढंग से कर दिखाता है, उसे ही सच्चे अर्थों में लोकतंत्रात्मक कहा जा सकता है। जहाँ ऐसी स्थिति न हो, वहाँ सरकार का बाहरी रूप लोकतंत्रात्मक भले हो, परन्तु वह नाम के लिए ही लोकतंत्रात्मक है।[२६]

मैं राज्य की सत्ता की वृद्धि को बड़े-से-बड़े भय की दृष्टि से देखता हूँ। क्योंकि जाहिरा तौर पर तो वह शोषण को कम-से-कम करके लाभ पहुँचाती है, परन्तु व्यक्तित्व को—जो सब प्रकार की उन्नति की जड़ है—नष्ट करके वह मानव-जाति को बड़ी-से-बड़ी हानि पहुँचाती है।

राज्य केन्द्रित और संगठित रूप से हिंसा का प्रतीक है। व्यक्ति के आत्मा होती है, परन्तु चूँकि राज्य एक आत्मारहित जड़ मशीन होता है, इसलिए उससे हिंसा कभी नहीं छुड़वायी जा सकती, उसका अस्तित्व ही हिंसा पर निर्भर है।[२७]

मेरी दृष्टि में राजनीतिक सत्ता कोई साध्य नहीं है, परन्तु जीवन के प्रत्येक विभाग में लोगों के लिए अपनी हालत सुधार सकने का एक साधन है। राजनीतिक सत्ता का अर्थ है राष्ट्रीय प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय जीवन का नियमन करने की शक्ति। अगर राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाता है कि वह स्वयं आत्म-नियमन कर ले, तो किसी प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं रह जाती। उस समय ज्ञानपूर्ण अराजकता की स्थिति हो जाती है। ऐसी स्थिति में हरएक अपना राजा होता है। वह इस ढंग से अपने पर शासन करता है कि अपने पड़ोसियों के लिए कभी बाधक नहीं बनता। इसलिए आदर्श अवस्था में कोई राजनीतिक सत्ता नहीं होती, क्योंकि कोई राज्य नहीं होता। परन्तु जीवन में आदर्श की पूरी सिद्धि कभी नहीं होती। इसलिए थोरो ने कहा है कि जो सबसे कम शासन करे वही उत्तर सरकार है।[२८]

अब सवाल यह है कि आदर्श समाज में कोई राजसत्ता रहेगी या वह बिलकुल अराजक समाज बनेगा? मेरे खयाल में ऐसा सवाल पूछने से कुछ भी फ़ायदा नहीं हो सकता है। अगर हम ऐसे समाज के लिए

मेहनत करते रहें, तो वह किसी हद तक बनता रहेगा, और उस हद तक लोगों को उससे फायदा पहुँचेगा। युक्लिड ने कहा है कि लाइन वही हो सकती है जिसमें चौड़ाई न हो। लेकिन ऐसी लाइन या लकीर न तो आज तक कोई बना पाया, न बना पायेगा। फिर भी ऐसी लाइन को खयाल में रखने से ही प्रगति हो सकती है। और, हरएक आदर्श के बारे में यही सच है।

आज दुनिया में कहीं भी अराजक समाज मौजूद नहीं है। अगर कभी कहीं बन सकता है, तो उसका आरम्भ हिन्दुस्तान में ही हो सकता है। क्योंकि हिन्दुस्तान में ऐसा समाज बनाने की कोशिश की गयी है। आजतक हम आखिरी दरजे की बहादुरी नहीं दिखा सकें, मगर उसे दिखाने का एक ही रास्ता है, और वह यह कि जो लोग उसे मानते हैं वे उसे दिखायें। ऐसा कर दिखाने के लिए, जिस तरह हमने जेलों का डर छोड़ दिया है, उसी तरह हमें मृत्यु का डर भी छोड़ देना होगा।[२९]

२१. क्या युवक चुनौती स्वीकार करेंगे?

हम एक ऊँची ग्राम-सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं। हमारे देश की विशालता, आबादी की विशालता और हमारी भूमि की स्थिति तथा आबहवा ने, मेरी राय में, मानो यह तय कर दिया है कि उसकी सभ्यता ग्राम-सभ्यता ही होगी। उसके दोष मशहूर हैं, लेकिन उनमें कोई ऐसा नहीं है जिसका इलाज न हो सकता हो। इस सभ्यता को मिटाकर उसकी जगह शहरी सभ्यता को जमाना मुझे तो अशक्य मालूम होता है। हाँ, हम लोग किन्हीं कठोर उपायों द्वारा अपनी आबादी ३० करोड़ से घटाकर ३ करोड़ या ३० लाख करने को तैयार हो जायँ तो दूसरी बात है। इसलिए यह मानकर कि हम लोगों को मौजूदा ग्राम-सभ्यता ही कायम रखना है और उसके माने हुए दोषों को दूर करने का प्रयत्न

करना है, मैंने उन दोषों के इलाज सुझाये हैं। लेकिन इन इलाजों का उपयोग तभी हो सकता है, जब कि देश का युवक-वर्ग ग्राम-जीवन को अपना ले। और अगर वे ऐसा करना चाहते हैं, तो उन्हें अपने जीवन का तौर-तरीका बदलना चाहिए और अपनी छुट्टियों का हरएक दिन अपने कॉलेज या हाईस्कूल के आसपासवाले गाँव में बिताना चाहिए, और जो अपनी शिक्षा पूरी कर चुके हों या जो शिक्षा ले ही न रहे हों, उन्हें गाँवों में बसने का इरादा कर लेना चाहिए।[१]

गाँवों में जाकर काम करने से हम चौंकते हैं। हम शहरी लोगों को देहाती जीवन अपनाना बहुत मुश्किल मालूम होता है। बहुतों के शरीर ही गाँव की कठिन चर्या को सहने से इनकार कर देते हैं। परन्तु यदि हम स्वराज्य की स्थापना जनता की भलाई के लिए करना चाहते हैं, सिर्फ शासकों के मौजूदा दल की जगह उनके जैसा ही कोई दूसरा दल—जो शायद उनसे भी बुरा सिद्ध हो—नहीं बैठाना चाहते, तो इस कठिनाई का मुकाबला हमें साहस के साथ ही नहीं बल्कि वीरता के साथ, अपने प्राणों की बाजी लगाकर करना होगा। आज तक देहाती लोग, हजारों और लाखों की संख्या में, हमारे जीवन का पोषण करने के लिए मरते आये हैं, अब उनके जीवन का पोषण करने के लिए हमें मरना होगा। बेशक, उनके मरने में और हमारे मरने में बुनियादी फर्क होगा। वे बिन-जाने और अनिच्छापूर्वक मरे हैं। उनके इस विवश बलिदान ने हमें गिराया है। अब यदि हम ज्ञानपूर्वक और इच्छापूर्वक मरेंगे, तो हमारा बलिदान हमें और हमारे साथ समूचे राष्ट्र को ऊपर उठायेगा। यदि हम एक आजाद और स्वावलम्बी देश की तरह जीना चाहते हैं, तो इस आवश्यक बलिदान से हमें अपना कदम पीछे नहीं हटाना चाहिए।[२]

मैं चाहता हूँ कि तुम (नवयुवक) गाँवों में जाओ और वहाँ जमकर बैठ जाओ—उनके मालिकों या उपकारकर्ताओं की तरह नहीं, उनके

विनम्र सेवकों की तरह। तुम्हारी दैनिक चर्या से और तुम्हारे रहन-सहन से उन्हें समझने दो कि उन्हें खुद क्या करना है और अपना रहने का ढंग किस तरह बदलना है। महज भावना का कोई उपयोग नहीं है, ठीक उसी तरह जैसे कि भाप का अपने-आप में कोई उपयोग नहीं हैं। भाप को उचित नियंत्रण में रखा जाय तभी उसमें ताकत पैदा होती है। यही बात भावना की है। मैं चाहता हूँ कि तुम भारत की आहत आत्मा के लिए शन्तिदायी लेप लेकर जानेवाले भगवान् के दूतों की तरह उनके बीच में जा पहुँचो।[३]

शहरों के नवयुवक प्रायश्चित करें

गाँवों की बुरी हालत का कारण यह है कि जिन्हें शिक्षा का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उन्होंने गाँवों की बहुत उपेक्षा की है। उन्होंने अपने लिए शहरी जीवन चुना है। ग्राम-आन्दोलन इसी बात का एक प्रयत्न है कि जो लोग सेवा की भावना रखते हैं, उन्हें गाँवों में बसकर ग्रामवासियों की सेवा में लग जाने के लिए प्रेरित करके गाँवों के साथ स्वास्थ्यप्रद सम्पर्क स्थापित किया जाय। जो लोग सेवाभाव से ग्रामों में बसे हैं, वे अपने सामने कठिनाइयाँ देखकर हतोत्साह नहीं होते। वे तो इस बात को जानकर ही वहाँ जाते हैं कि अनेक कठिनाइयों में, यहाँ तक कि गाँववालों की उदासीनता के होते हुए भी, उन्हें वहाँ काम करना है, जिन्हें अपने मिशन में और खुद अपने-आपमें विश्वास है, वे ही गाँववालों की सेवा करके उनके जीवन पर कुछ असर डाल सकेंगे। सच्चा जीवन बिताना खुद ऐसा सबक है, जिसका आसपास के लोगों पर जरूर असर पड़ता है। लेकिन जो सिर्फ अपने जीवन-निर्वाह के लिए रोजी कमाने को ही वहाँ जाते हैं, उनके लिए ग्राम-जीवन में कोई आकर्षण नहीं है, यह मैं स्वीकार करता हूँ। सेवाभाव के बगैर जो लोग गाँवों में जाते हैं, उनके लिए तो उसकी नवीनता नष्ट होते ही ग्राम-जीवन नीरस हो जायेगा।

गाँवों में जानेवाले किसी नवयुवक को कठिनाइयों से घबराकर कभी अपना रास्ता नहीं छोड़ना चाहिए।...नवयुवकों को मेरी सलाह है कि...वे अपना प्रयत्न छोड़ न दें, बल्कि उसमें लगे रहें और अपनी उपस्थिति से गाँवों को अधिक प्रिय और रहने योग्य बना दें। लेकिन यह वे करेंगे ऐसी सेवा के ही द्वारा, जो गाँववालों के अनुकूल हो। अपने ही परिश्रम से गाँवों को अधिक साफ-सुथरा बनाकर और अपनी योग्यतानुसार गाँवों की निरक्षरता दूर करके हरएक व्यक्ति इसकी शुरुआत कर सकता है। और अगर उनके जीवन साफ, सुघड़ और परिश्रमी हों, तो इसमें कोई शक नहीं कि जिन गाँवों में वे काम कर रहे होंगे, उनमें भी उसकी छूत फैलेगी और गाँववाले भी साफ, सुघड़ और परिश्रमी बनेंगे।[४]

गाँव में जितने लोग रहते हैं उन्हें पहचानना, उन्हें जो सेवा चाहिए वह देना, अर्थात् उनके लिए साधन जुटा देना और उनको वह काम करना सिखा देना, दूसरे कार्यकर्ता पैदा करना आदि काम ग्रामसेवक करेगा। ग्रामसेवक ग्रामवासियों पर इतना प्रभाव डालेगा कि वे खुद आकर उससे सेवा माँगेंगे, और उसके लिए ज़ो साधन या दूसरे कार्यकर्ता चाहिए, उन्हें जुटाने के लिए उसकी पूरी मदद करेंगे। मानो कि मैं देहात में घानी लगाकर बैठा हूँ, तो मैं घानी से सम्बन्ध रखनेवाले सब काम तो कर ही लूँगा। मगर मैं सामान्य १५-२० रुपये कमानेवाले घांची(तेली) नहीं बनूँगा। मैं तो महात्मा घांची बनूँगा। 'महात्मा' शब्द मैंने विनोद में इस्तेमाल किया है इसका अर्थ केवल यह है कि अपने घांचीपने में मैं इतनी सिद्धि डाल दूँगा कि गाँववाले आश्चर्यचकित हो जायेंगे। मैं गीता पढ़नेवाला, कुरानशरीफ पढ़नेवाला, उनके लड़कों को शिक्षा दे सकने की शक्ति रखनेवाला घांची होऊँगा। समय के अभाव से मैं लड़कों को सिखा न सकूँ, यह दूसरी बात है। लोग आकर कहेंगे: "तेली महाशय, हमारे लड़कों के लिए एक शिक्षक तो ला दीजिएगा।" मैं कहूँगा, "शिक्षक मैं ला दूँगा, मगर उसका खर्च आपको बरदाश्त

करना होगा।'' वे खुशी से उसको स्वीकार करेंगे। मैं उन्हें कातना सिखा दूँगा। जब वे बुनकर की मदद की माँग करेंगे, तो शिक्षक की तरह उन्हें बुनकर ला दूँगा, ताकि जो चाहे सो बुनना भी सीख ले। उन्हें मैं ग्राम-सफाई का महत्त्व बताऊँगा। जब वे सफाई के लिए भंगी माँगेंगे तो मैं कहूँगा, मैं खुद भंगी हूँ, आइए आपको यह काम भी सिखा दूँ। यह है मेरी समग्र ग्रामसेवा की कल्पना। आप कह सकते हैं कि इस युग में तो ऐसा घांची पैदा नहीं होनेवाला है, तो आपसे कहूँगा, तब इस युग में ग्राम भी ऐसे-के-ऐसे रहनेवाले हैं।

ग्रामसेवक की आवश्यक योग्यताएँ

ग्राम-उद्धार में अगर सफाई न आये, तो हमारे गाँव कचरे के घूरे जैसे ही रहेंगे। ग्राम-सफाई का सवाल प्रजा के जीवन का अविभाज्य अंग है। यह प्रश्न जितना आवश्यक है, उतना ही कठिन भी है। दीर्घ काल से जिस अस्वच्छता की आदत हमें पड़ गयी है, उसे दूर करने के लिए महान् पराक्रम की आवश्यकता है। जो सेवक ग्राम-सफाई का शास्त्र नहीं जानता, खुद भंगी का काम नहीं करता, वह ग्राम-सेवा के लायक नहीं बन सकता।

नयी तालीम के बिना हिन्दुस्तान के करोड़ों बालकों को शिक्षण देना लगभग असम्भव है, यह चीज सर्वमान्य हो गयी कही जा सकती है। इसलिए ग्रामसेवक को उसका ज्ञान होना ही चाहिए। उसे नयी तालीम का शिक्षण होना चाहिए। इस तालीम के पीछे प्रौढ़-शिक्षा तो अपने-आप चला आयेगा। जहाँ नयी तालीम ने घर कर लिया होगा, वहाँ बच्चे ही माता-पिता के शिक्षक बन जानेवाले हैं। कुछ भी हो, ग्रामसेवक के मन में प्रौढ़-शिक्षा देने की लगन होनी चाहिए।

स्त्री को अर्धांगिनी माना गया है। जब तक कानून से स्त्री और पुरुष के हक समान नहीं माने जाते, तब तक लड़की के जन्म का लड़के के जन्म जितना ही स्वागत नहीं किया जाता है, तब तक समझना चाहिए

कि हिन्दुस्तान लकवे के रोग से ग्रस्त है। स्त्री की अवगणना अहिंसा की विरोधी है। इसलिए ग्रामसेवक को चाहिए कि वह हर स्त्री को माँ, बहन या बेटी के समान समझे और उसके प्रति आदर-भाव रखे। ऐसा ग्रामसेवक ही ग्रामवासियों का विश्वास प्राप्त कर सकेगा।

रोगी प्रजा के लिए स्वराज्य प्राप्त करना मैं असम्भव मानता हूँ। इसलिए हम लोग आरोग्य-शास्त्र की जो अवगणना करते हैं, वह दूर होनी चाहिए। अतः ग्रामसेवक को आरोग्य-शास्त्र का ज्ञान होना चाहिए।

राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र नहीं बन सकता। 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी-उर्दू' के झगड़े में न पड़कर ग्रामसेवक, अगर वह राष्ट्रभाषा नहीं जानता, उसका ज्ञान हासिल करे। उसकी बोली ऐसी होनी चाहिए, जिसे हिन्दू-मुसलमान सब समझ सकें।

हमने अंग्रेजी के मोह में फँसकर मातृभाषा का द्रोह किया है। इस श्वेह के प्रायश्चित्त के तौरपर भी ग्रामसेवक मातृभाषा के प्रति लोगों के मन में प्रेम उत्पन्न करेगा। उसके मन में हिन्दुस्तान की सब भाषाओं के लिए आदर होगा। उसकी अपनी मातृभाषा जो भी हो, जिस प्रदेश में वह बसेगा, वहाँ की मातृभाषा वह स्वयं सीखकर अपनी मातृभाषा के प्रति वहाँ के लोगों की भावना बढ़ायेगा।

अगर इस सबके साथ-साथ आर्थिक समानता का प्रचार न किया गया, तो यह सब निकम्मा समझना चाहिए। आर्थिक समानता का यह अर्थ हरगिज नहीं कि हरएक के पास धन की समान राशि होगी। मगर यह अर्थ जरूर है कि हरएक के पास ऐसा घरबार, वस्त्र और खाने-पीने का सामान होगा कि जिससे वह सुख से रह सके। और जो घातक असमानता आज मौजूद है, वह केवल अहिंसक उपायों से ही नष्ट होगी।[६]

यह हिन्दुस्तान की बदकिस्मती है कि जैसी दलबन्दी और मतभेद शहरों में है, वैसी ही देहातों में भी देखे जाते हैं। और जब गाँवों की भलाई का खयाल न रखते हुए अपनी पार्टी की ताकत बढ़ाने के लिए

गाँवों का उपयोग करने के खयाल से राजनीतिक सत्ता की बू हमारे देहातों में पहुँचती है, तो उससे देहातियों को मदद मिलने के बजाय उनकी तरक्की में रुकावट ही होती है। मैं तो कहूँगा कि चाहे जो नतीजा हो, हमें ज्यादा-से-ज्यादा मात्रा में स्थानीय मदद लेनी चाहिए। और अगर हम राजनीतिक सत्ता हड़पने की बुराई से दूर रहें, तो हमारे हाथों कोई बुराई होने की सम्भावना नहीं रहती। हमें याद रखना चाहिए कि शहरों के अंग्रेजी पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुषों ने हिन्दुस्तान के आधार पर बने हुए गाँवों को भुला देने का गुनाह किया है। इसलिए आज तक की हमारी इस लापरवाही को याद करने से हममें धीरज पैदा होगा। अभी तक मैं जिस-जिस गाँव में गया हूँ , वहाँ मुझे एक-न-एक सच्चा कार्यकर्ता मिला ही है। लेकिन गाँवों में भी लेने लायक कोई अच्छी चीज होती है, ऐसा मानने की नम्रता हममें नहीं है। और यही कारण है कि हमें वहाँ कोई नहीं मिलता। बेशक, हमें स्थानीय राजनीतिक मामलों से परे रहना चाहिए। लेकिन यह हम तभी कर सकते हैं, तब हम सारी पार्टियों की और किसी भी पार्टी में शामिल न होनेवाले लोगों की सच्ची मदद लेना सीख जायेंगे।[७]

सुसंस्कृत घर जैसी कोई पाठशाला नहीं और ईमानदार तथा सदाचारी माता-पिता जैसी कोई शिक्षण नहीं। स्कूलों में मिलनेवाली प्रचलित शिक्षा गाँववालों पर एक व्यर्थ का बोझ है, जिसका उनके लिए कोई उपयोग नहीं है। उनके बच्चे उसे पाने की आशा नहीं कर सकते। और भगवान् को धन्यवाद है कि यदि उन्हें सुसंस्कृत घर की तालीम मिल सके, तो उन्हें कभी भी उसकी कमी खटकेगी नहीं। अगर ग्रामसेवक संस्कारवान् नहीं है, अगर वह अपने घर में सुसंस्कृत वातावरण पैदा करने की क्षमता नहीं रखता, तो उसे ग्रामसेवक बनने की, ग्रामसेवक होने का सम्मान और अधिकार पाने की, आकांक्षा छोड़ देनी चाहिए।[८]

अगर शारीरिक श्रम के साथ अकारण ही जो शर्म की भावना जुड़

गयी है, वह दूर की जा सके, तो सामान्य बुद्धिवाले हरएक युवक और युवती के लिए उन्हें जितना चाहिए, उससे कहीं अधिक काम पड़ा हुआ है।[९]...

...जो आदमी अपनी जीविका ईमानदारी से कमाना चाहता है वह किसी भी श्रम को छोटा यानी अपनी प्रतिष्ठा को घटानेवाला नहीं मानेगा। महत्त्व की बात यह है कि भगवान् ने हमें जो हाथ-पाँव दिये हैं, हम उनका उपयोग करने के लिए तैयार रहें।[१०]

अपना सारा ज्ञान और पाण्डित्य तराजू के एक पलड़े पर और सत्य तथा पवित्रता को दूसरे पलड़े पर रखकर देखो। सत्य और पवित्रतावाला पलड़ा पहले पलड़े से कहीं भारी पड़ेगा। नैतिक अपवित्रता की विषैली हवा आज हमारे विद्यार्थियों में भी जा पहुँची है और किसी छिपी हुई महामारी की तरह उसकी भयंकर बरबदी कर रही है। इसलिए मैं तुम लोगों से अनुरोध करता हूँ कि तुम अपने मन और शरीर पवित्र रखो। तुम्हारा सारा पांण्डित्य और शास्त्रों का तुम्हारा सारा अध्ययन बिलकुल बेकार होगा, यदि तुम उनकी शिक्षाओं को अपने दैनिक जीवन में उतार सको। मैं जानता हूँ कि शिक्षक भी ऐसे हैं जो पवित्र और स्वच्छ जीवन नहीं बिताते। उनसे मैं कहूँगा कि वे अपने छात्रों को दुनिया का सारा ज्ञान सिंखा दें, परन्तु यदि वे उनमें सत्य और पवित्रता की लगन पैदा न करें, तो यही कहना होगा कि उन्होंने अपने छात्रों का श्वेह किया है और उन्हें ऊपर उठाने के बजाय आत्मनाश के मार्ग की ओर प्रवृत्त किया है। चरित्र के अभाव में ज्ञान बुराई को ही बढ़ानेवाली शक्ति है, जैसा कि हम ऊपर से भले दिखायी देनेवाले किन्तु भीतर से चोरी और बेईमानी का धन्धा करनेवाले अनेक लोगों के मामले में देखते हैं।[११]

युवकों को, जो भविष्य के विधाता होने का दावा करते हैं, राष्ट्र का नमक—रक्षक तत्त्व—होना चाहिए। यदि यह नमक ही अपना खारापन छोड़ दे तो उसे खारा कैसे बनाया जाय?[१२]

मेरी आशा देश के युवकों पर है। उनमें से जो बुरी आदतों के शिकार हैं, वे स्वभाव से बुरे नहीं हैं। वे उनमें लाचारी से और बिना सोचे-समझे फँस जाते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि इससे उनका और देश के युवकों का कितना नुकसान हुआ है। उन्हें यह भी समझना चाहिए कि कठोर अनुशासन द्वारा नियमित जीवन ही उन्हें यह भी समझना चाहिए कि कठोर अनुशासन द्वारा नियमित जीवन ही उन्हें और राष्ट्र को सम्पूर्ण विनाश से बचा सकता है, कोई दूसरी चीज नहीं।

...सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्हें ईश्वर की खोज करनी चाहिए और प्रलोभनों से बचने के लिए उसकी मदद माँगनी चाहिए। उसके बिना यंत्र की तरह केवल अनुशासन का पालन करने से विशेष लाभ नहीं होगा। ईश्वर की खोज का, उसके ध्यान और दर्शन का अर्थ यह भी है कि जिस तरह बालक बिना किसी प्रदर्शन की आवश्यकता के अपनी माँ के प्रेम को महसूस करता है, उसी तरह हम भी यह महसूस करें कि ईश्वर हमारे हृदयों में विराजमान है।[१३]

२२. आजाद भारत का लक्ष्य

मैं आजादी इसलिए नहीं चाहता कि मेरा बड़ा देश, जिसकी आबादी सम्पूर्ण मानव-जाति का पाँचवाँ हिस्सा है, दुनिया की किसी भी दूसरी जाति का, या किसी भी व्यक्ति का शोषण करे। मैं अपनी शक्तिभर अपने देश को ऐसा अनर्थ नहीं करने दूँगा। यदि मैं अपने देश के लिए आजादी चाहता हूँ, तो मुझे यह मानना चाहिए कि प्रत्येक दूसरी सबल या निर्बल जाति को भी उस आजादी का वैसा ही अधिकार है। यदि मैं ऐसा नहीं मानता हूँ और ऐसी इच्छा नहीं करता हूँ, तो उसका यह अर्थ है कि मैं उस आजादी का पात्र नहीं हूँ।[१]

मेरी आकांक्षा का लक्ष्य स्वंत्रता से ज्यादा ऊँचा है। भारत की मुक्ति द्वारा मैं पश्चिम के भीषण शोषण से दुनिया के कई निर्बल देशों का उद्धार करना चाहता हूँ। भारत के अपनी सच्ची स्थिति को प्राप्त करने का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि हरएक देश वैसा ही कर सकेगा और करेगा।[२]

मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि भारत अपनी स्वतंत्रता अहिंसक उपायों से प्राप्त करे, तो फिर वह बड़ी स्थलसेना, उतनी ही बड़ी जलसेना और उससे भी बड़ी वायुसेना रखने की इच्छा नहीं करेगा। यदि आजादी की अपनी लड़ाई में अहिंसक विजय प्राप्त करने के लिए उसकी आत्मचेतना को जितनी ऊँचाई तक उठना चाहिए, उतनी ऊँचाई तक वह उठ सकी, तो दुनिया के माने हुए मूल्यों में परिवर्तन हो जायेगा और लड़ाइयों के साज-सामान का अधिकांश निरर्थक सिद्ध हो ज़ायेगा। ऐसा भारत भले महज एक सपना हो, बच्चों की जैसी कल्पना हो लेकिन मेरी राय में अहिंसा द्वारा भारत के स्वतंत्र होने का फलितार्थ तो बेशक यही होना चाहिए।...तब उसकी आवाज दुनिया के सारे हिंसक दलों को नियंत्रण में रखने की कोशिश करनेवाले एक शक्तिशाली देश की आवाज होगी।[३]

क्या जगत् को रास्ता दिखाने का श्रेय भारत को मिलेगा?

मैं अपने हृदय की गहराई में यह महसूस करता हूँ कि दुनिया रक्तपात से बिलकुल ऊब गयी है। दुनिया इस असह्य स्थिति से बाहर निकलने का रास्ता खोज रही है। और मैं विश्वास करता हूँ तथा उस विश्वास में सुख और गर्व अनुभव करता हूँ कि शायद मुक्ति के प्यासे जगत् को यह रास्ता दिखाने का श्रेय भारत की प्राचीन भूमि को ही मिलेगा।[४]

हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय सरकार क्या नीति अख्तियार करेगी सो मैं नहीं कह सकता। सम्भव है कि अपनी प्रबल इच्छा के रहते हुए भी मैं

तब तक जीवित न रहूँ। लेकिन अगर उस वक्त तक मैं जिन्दा रहा, तो अपनी अहिंसक नीति को यथासम्भव सम्पूर्णता के साथ अमल में लाने की सलाह दूँगा। विश्व की शान्ति और नयी विश्व-व्यवस्था की स्थापना में यही हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा हिस्सा भी होगा। मुझे आशा तो यह है कि चूँकि हिन्दुस्तान में इतनी लड़ाकू जातियाँ हैं और चूँकि स्वतंत्र हिन्दुस्तान की सरकार के निर्णय में उन सबका हिस्सा होगा, इसलिए हमारी राष्ट्रीय नीति का झुकाव मौजूदा सैन्यवाद से भिन्न किसी अन्य प्रकार के सैन्यवाद की तरफ होगा। मैं यह उम्मीद तो जरूर करूँगा कि एक राजनीतिक शस्त्र की हैसियत से अहिंसा की व्यावहारिक उपयोगिता का हमारा पिछला सारा...प्रयोग बिलकुल विफल नहीं जायेगा। और सच्चे अहिंसावादियों का एक मजबूत दल हिन्दुस्तान में पैदा हो जायेगा।[५]

जब भारत स्वावलम्बी और स्वाश्रयी बन जायेगा और इस तरह न तो खुद किसी की सम्पत्ति का लोभ करेगा और न अपनी सम्पत्ति का शोषण होने देगा, तब वह पश्चिम या पूर्व के किसी भी देश के लिए— उसकी शक्ति कितनी भी प्रबल क्यों न हो—लालच का विषय नहीं रह जायेगा। और तब वह खर्चीले शास्त्रास्त्रों का बोझ उठाये बिना ही अपने को सुरक्षित अनुभव करेगा। उसकी यह भीतरी स्वाश्रयी अर्थ-व्यवस्था बाहरी आक्रमण के खिलाफ सुदृढ़तम ढाल होगी।[६]

दुनिया के सुविचारशील लोग आज ऐसे पूर्ण स्वतंत्र राज्यों को नहीं चाहते जो एक-दूसरे से लड़ते हों, बल्कि एक-दूसरे के प्रति मित्रभाव रखनेवाले अन्योन्याश्रित राज्यों के संघ को चाहते हैं। भले ही इस उद्देश्य की सिद्धि का दिन बहुत दूर हो। मैं अपने देश के लिए कोई भारी दावा नहीं करना चाहता। लेकिन यदि हम पूर्ण स्वंतत्रता के बजाय अन्योन्याश्रित राज्यों के विश्वसंघ की तैयारी जाहिर करें, तो इसमें हम न तो कोई बहुत भारी बात ही कहते हैं और न वह असम्भव ही है।[७]

देश-प्रेम और मानव-प्रेम में भेद नहीं है

मेरे लिए देश-प्रेम और मानव-प्रेम में कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। मैं देश-प्रेमी हूँ, क्योंकि मैं मानव-प्रेमी हूँ। मेरा देश-प्रेम वर्जनशील नहीं है। मैं भारत के हित की सेवा के लिए इंग्लैण्ड या जर्मनी का नुकसान नहीं करूँगा। जीवन की मेरी योजना में साम्राज्यवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। देश-प्रेमी की जीवन-नीति किसी कुल या कबिले के अधिपति की जीवन-नीति से भिन्न नहीं है। और यदि कोई देश-प्रेमी उतना ही उग्र मानव-प्रेमी नहीं है, तो कहना चाहिए कि उसके देश-प्रेम में उतनी न्यूनता है। वैयक्तिक आचरण और राजनीतिक आचरण में कोई विरोध नहीं है, सदाचार का नियम दोनों को लागू होता है।[८]

जिस तरह देश-प्रेम का धर्म हमें आज यह सिखाता है कि व्यक्ति को परिवार के लिए, परिवार को ग्राम के लिए, ग्राम को जनपद के लिए और जनपद को प्रदेश के लिए मरना सीखना चाहिए, इसी तरह किसी देश को स्वतंत्र इसलिए होना चाहिए कि वह आवश्यकता होने पर संसार के कल्याण के लिए अपना बलिदान दे सके। इसलिए राष्ट्रवाद की मेरी कल्पना यह है कि मेरा देश इसलिए स्वाधीन हो कि प्रयोजन उपस्थित होने पर सारा ही देश मानव-जाति की प्राण-रक्षा के लिए स्वेच्छापूर्वक मृत्यु का आलिंगन करे। उसमें जातिद्वेष के लिए कोई स्थान नहीं है। मेरी कामना है कि हमारा राष्ट्र-प्रेम ऐसा ही हो।[९]

मैं भारत का उत्थान इसलिए चाहता हूँ कि सारी दुनिया उससे लाभ उठा सके। मैं यह नहीं चाहता कि भारत का उत्थान दूसरे देशों के नाश की नींव पर हो।[१०]

मेरा देश-प्रेम कोई बहिष्कारशील वस्तु नहीं, बल्कि अतिशय व्यापक वस्तु है और मैं उस देश-प्रेम को वर्ज्य मानता हूँ जो दूसरे राष्ट्र को तकलीफ देकर या उनका शोषण करके अपने देश को उठाना

चाहता है। देश-प्रेम की मेरी कल्पना यह है कि वह हमेशा, बिना किसी अपवाद के हरएक स्थिति में, मानव-जाति के विशालतम हित के साथ सुसंगत होना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो देश-प्रेम की कोई कीमत नहीं। इतना ही नहीं, मेरे धर्म और उस धर्म से ही प्रसूत मेरे देश-प्रेम के दायरे में प्राणीमात्र का समावेश होता है। मैं न केवल मनुष्य नाम से पहचाने जानेवाले प्राणियों के साथ भ्रातृत्व और एकात्मता सिद्ध करना चाहता हूँ, बल्कि समस्त प्राणियों के साथ—रेंगनेवाले साँप आदि जैसे प्राणियों के साथ भी—उसी एकात्मता का अनुभव करना चाहता हूँ। कारण, हम सब उसी एक स्रष्टा की सन्तति होने का दावा करते हैं और इसलिए सब प्राणी, उनका रूप कुछ भी हो, मूल में एक ही हैं।[११]

प्रेम और सत्य का पैगाम

सार्वजनिक जीवन के लगभग ५० वर्ष के अनुभव के बाद आज मैं यह कह सकता हूँ कि अपने देश की सेवा दुनिया की सेवा से असंगत नहीं है—इस सिद्धान्त में मेरा विश्वास बढ़ा ही है। यह एक उत्तम सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करके ही दुनिया की मौजूदा कठिनाइयाँ आसान की जा सकती हैं और विभिन्न राष्ट्रों में जो पारस्परिक द्वेषभाव नजर आता है। उसे रोका जा सकता है।[१२]

अगर हिन्दुस्तान अपने फर्ज को भूलता है तो एशिया मर जायेगा। यह ठीक ही कहा गया है कि हिन्दुस्तान कई मिली-जुली सभ्यताओं या तहजीबों का घर है, जहाँ वे सब साथ-साथ पनपी हैं। हम सब ऐसे काम करें कि हिन्दुस्तान एशिया की या दुनिया के किसी भी हिस्से की कुचली और चूसी हुई जातियों की आशा बना रहे।[१३]

अगर आप पश्चिम को कोई पैगाम देना चाहते हैं, तो वह प्रेम और सत्य का पैगाम होना चाहिए।...जमहूरियत के इस जमाने में गरीब की जागृति के इस युग में, आप ज्यादा-से-ज्यादा जोर देकर इस पैगाम की जागृति का दुनिया में प्रचार कर सकते हैं। चूँकि आपका शोषण किया

गया है, इसलिए उसका उसी तरह बदला चुकाकर नहीं, बल्कि सच्ची समझदारी के जरिये आप पश्चिम पर पूरी तरह से विजय पा सकते हैं। अगर हम सिर्फ अपने दिमागों से नहीं, बल्कि दिलों से भी इस पैगाम के मर्म को, जिसे एशिया के विद्वान् हमारे लिए छोड़ गये हैं, एक साथ समझने की कोशिश करें और अगर हम सचमुच उस महान् पैगाम के लायक बन जायँ, तो मुझे विश्वास है कि हम पश्चिम को पूरी तरह से जीत लेंगे। हमारी इस जीत को पश्चिम खुद भी प्यार करेगा।

पश्चिम आज सच्चे ज्ञान के लिए तरस रहा है। अणु-बमों की दिन-दूनी बढ़ती से वह नाउम्मीद हो रहा है। क्योंकि अणु-बमों के बढ़ने से सिर्फ पश्चिम का ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया का नाश हो जायेगा, मानो बाइबल की भविष्य-वाणी सच होने जा रही है और पूरी कयामत होनेवाली है। अब यह आपके ऊपर है कि आप दुनिया की नीचता और पापों की तरफ उसका ध्यान खींचें और उसे बचायें।[१४]

●

परिशिष्ट : १

२३. सच्ची सभ्यता*

प्रश्न—आपने रेल को फेल किया, वकीलों को कोसा, डॉक्टर को दबोचा। मशीनमात्र को आप हानिकर मानेंगे, यह भी देखता ही हूँ। तब सभ्यता कहें किसको?

उत्तर—इस सवाल का जवाब देना कठिन नहीं है। मैं तो मानता हूँ कि हिन्दुस्तान ने जिस सभ्यता का नमूना दुनिया के सामने पेश किया है दुनिया की कोई भी सभ्यता उसका मुकाबला नहीं कर सकती। जो बीज हमारे पुरखों ने बोया उसकी बराबरी कर सकनेवाली कोई चीज मेरे देखने में नहीं आयी। रोम मिट्टी में मिल गया। यूनान का नाम भर रह गया। मिस्र के फरज्जौनों की बादशाही बिदा हो गयी। जापान पश्चिम का चेला बन गया। चीन की कथा तो कहने ही लायक नहीं। पर हिन्दुस्तान ठोकर खाकर गिर गया है, फिर भी अभी उसकी जड़ मजबूत है।

रोम और यूनान आज अवनति के गड्ढे में गिरे हुए हैं, फिर भी यूरोप के लोग उन्हीं की पुस्तकों से ज्ञान लेते हैं। वे सोचते हैं कि रोम-यूनान ने जो गलतियाँ कीं उससे हम बच जायेंगे। जब उनकी ऐसी हीन दशा है, हिन्दुस्तान अपनी जगह पर अचल है। यही उसका गौरव है। हिन्दुस्तान पर यह दोष लगाया जा सकता है कि यहाँ के लोग इतने असभ्य, अज्ञान और आलसी हैं कि उनसे कोई फेरफार कराया ही नहीं जा सकता। पर यह आरोप हमारा गुण है, दोष नहीं। अनुभव की कसौटी पर जिस बात को हमने ठीक पाया उसमें फेरफार क्यों करें? हमें अकल देनेवाले तो बहुतेरे आया-जाया करते हैं, पर हिन्दुस्तान अडिग रहता है। यही उसकी खूबी है, यही उसका लंगर है।

* यह अंश गांधीजी की 'हिन्द-स्वराज्य' पुस्तक से लिया गया है, प्रकरण १३।

सभ्यता तो आचार-व्यवहार की वह रीति है जिससे मनुष्य अपने कर्तव्यों का पालन करे। कर्तव्य-पालन और नीति-पालन एक ही चीज है। नीति-पालन का अर्थ है अपने मन और अपनी इन्द्रियों को वश में रखना। यह करते हुए हम अपने आपको पहचानते हैं। यही 'सुधार' यानी सभ्यता है, जो कुछ इसके विरुद्ध है वह 'कुधार'—असभ्यता है।

सभ्यता की इस व्याख्या के अनुसार तो हिन्दुस्तान को किसी से कुछ सीखना नहीं रखता। वास्तव में है भी यही बात। अनेक अंग्रेजी-लेखक भी यह बात लिख गये हैं। हम देख चुके हैं कि मनुष्य की वृत्तियाँ चंचल हैं, उसका मन यहाँ से वहाँ भटकता रहता है। शरीर का यह हाल है कि उसे जितना दो उतना ही और माँगता है। अधिक पाकर भी सुखी नहीं होता। भोग भोगने से भोग की इच्छा बढ़ती जाती है। इसी से हमारे पुरखों ने उसकी हद बाँध दी। बहुत सोच-विचार के बाद वे इस नतीजे पर पहुँचे कि सुख-दुख का कारण हमारा मन है। अमीर न अमीर होने के कारण सुखी होता है और गरीब न गरीब होने की वजह से दुखी होता है। अकसर अमीर दुखी और गरीब सुखी दिखायी देता है। फिर करोड़ों आदमियों को तो गरीब ही रहना है। यही देखकर हमारे बुजुर्गों ने हमें भोग की वासना से मुक्त करने की कोशिश की। हजारों साल पहले जिस हल से हमने काम लिया उसी से आजतक काम चलाते रहे। हजारों वर्ष पहले जैसे झोंपड़ों में हमने गुजर किया वैसे ही झोंपड़े अब तक बनाते रहे। पढ़ाई-लिखाई का भी वहीं हजारों वर्ष पहले का ढर्रा चलता रहा। सत्यानाशी प्रतियोगिता को हमने अपने पास फटकने नहीं दिया, सब अपना-अपना धन्धा करते और बँधे हिसाब से पैसा लेते रहे। नये-नये कल-पुरजे बनाना न आता हो सो बात नहीं थी। पर हमारे पुरखों ने देखा कि मनुष्य यंत्रों के जाल में फँसा तो उसका गुलाम ही बन जायेगा और नीति से हाथ धो बैठेगा। इसलिए उन्होंने सोच-विचार कर कहा कि तुम्हारे हाथ-पाँव से जितना हो सके उतना ही करो, हाथ-पैर से काम लेने में ही सच्चा सुख और स्वास्थ्य है।

उन्होंने यह भी सोचा है कि बड़े-बड़े शहर बसाना बेकार की झंझट है। उनमें रहकर लोग सुखी न होंगे। वहाँ तो चोर-डाकुओं के दल जुड़ेंगे, पैसेवाले गरीबों को चूसेंगे, 'सफेद गलियाँ' आबाद होंगी। अत: उन्होंने छोटे-छोटे गाँवों से ही सन्तोष किया। उन्होंने देखा कि राजाओं और उनकी तलवारों से नीति-धर्म का बल अधिक बलवान है, इसलिए उन्होंने नीतिवान् पुरुषों, ऋषियों, मुनियों और साधु-सन्तों से राजा का दरजा छोटा माना। जिस राष्ट्र का विधान ऐसा हो वह दूसरों को सिखाने का अधिकारी है, उनसे सीखने का नहीं।

हमारे यहाँ अदालतें थीं, वकील थे, वैद्य-हकीम थे। पर सबको बँधे नियमों के अन्दर रहना पड़ता था। सभी जानते थे कि ये धन्धे कुछ दूसरे धन्धों से ऊँचे नहीं हैं। फिर वकील, वैद्य आदि लोगों को लूटते नहीं थे। ये लोग तो जन-समाज पर आश्रित थे, उनके मालिक बनकर नहीं रहते थे। न्याय प्राय: सच्चा ही होता था। अदालत न जाना ही साधारण नियम था। उन्हें बहकाने के लिए दलाल भी नहीं थे। इन बुराइयों के दर्शन तो राजदरबारों और राजधानियों में ही होते थे। आम लोग तो दूसरे ढंग से रहते और अपनी खेती-किसानी करते थे। उनके लिए तो सच्चा स्वराज्य था।

यह चाण्डाल सभ्यता जहाँ नहीं पहुँची है वहाँ आज भी वही हिन्दुस्तान है। वहाँ आप अपने ढोंग-ढकोसलों की बात करें तो लोग आपकी हँसी उड़ायेंगे। उन पर न अंग्रेज राज्य करते हैं न आप कभी कर सकेंगे। जिन लोगों के नाम पर हम बातें करते हैं। उन्हें हम नहीं पहचानते और वे हमें नहीं पहचानते। आप या जिसके दिल में देश का दर्द है उन्हें मैं यह सलाह दूँगा कि पहले आप अपने देश के उस हिस्से में जायँ जहाँ अभी रेल के चरण नहीं पहुँचे हैं, वहाँ छ: महीने घूमें और फिर दिल में देश का दर्द पैदा करें और स्वराज्य की बात करें।

अब आपने देख लिया कि सच्ची सभ्यता या सुधार मैं किसे कहता हूँ। ऊपर जो चित्र मैंने खींचा है वैसा हिन्दुस्तान जहाँ हो वहाँ जो लोग फेरफार करना चाहते हों उन्हें देश का दुश्मन जानिये, वे पापी हैं।

प्रश्न—आपने जैसा बताया है हिन्दुस्तान वैसा ही हो तब तो सब ठीक ही है। पर जिस देश में हजारों बालविधवाएँ हैं, जिस देश में दो-दो वर्ष के बच्चों की भाँवरें फिरायी जाती हों, जिस देश में बारह वर्ष के लड़के-लड़कियाँ पति-पत्नी और माँ-बाप बनते हों, जिस देश में स्त्री एकाधिक पति करती हो, जिस देश में नियोग की प्रथा चलती हो, जिस देश में धर्म के नाम पर बकरे-पँड़वे काटे जाते हों, वह देश भी तो हिन्दुस्तान ही है। फिर भी आपने जो कुछ कहा है वह सभ्यता का ही लक्षण है न?

उत्तर—आप भूलते हैं। आपने जो दोष बताये हैं वे तो दोष हैं ही। उन्हें कोई हमारी पुरानी सभ्यता नहीं कहता। उस सभ्यता के रहते हुए भी ये दोष दूर करने के प्रयत्न सदा होते रहे और होते रहेंगे। हमारे अन्दर जो नयी जागृति हुई है उसका हम इस दोष-त्रुटियों को दूर करने में उपयोग कर सकते हैं। पर आधुनिक सभ्यता के जो लक्षण मैंने आपको बताये हैं, उन्हें उसकी हिमायती अपने मुँह से भी कहते हैं। भारतीय सभ्यता को मैंने जैसा बताया है, उसके भक्त भी उसे वैसा ही कहते हैं।

किसी भी देश और किसी भी सभ्यता में सब लोग सम्पूर्णता नहीं प्राप्त कर सके। भारतीय सभ्यता का झुकाव नीति को दृढ़ करने की ओर है, पश्चिमी सभ्यता का अनीति को दृढ़ करने की ओर। पश्चिम की सभ्यता नास्तिक, निरीश्वरवादी है, भारत की सभ्यता ईश्वर को माननेवाली है।

हिन्दुस्तान का हित चाहनेवालों को चाहिए कि इस तत्त्व को समझकर, इसमें श्रद्धा रखकर जैसे बच्चा माँ की छाती से चिपका रहता है वैसे ही अपनी पुरानी सभ्यता से चिपके रहें।

२४. सत्याग्रह या आत्मबल*

प्रश्न—आप जिस सत्याग्रह या आत्मबल की बात करते हैं, उसकी सफलता का कोई ऐतिहासिक प्रमाण भी है? एक भी राष्ट्र इस बल से ऊपर उठा हो, यह बात आज तक देखने में नहीं आयी। मुझे तो आज भी ऐसा लगता है कि दुष्टजन मार के उपचार के बिना सीधे नहीं रह सकते।

उत्तर—गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

दया धर्म का मूल है, पाप-मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िए जब तक घट में प्रान॥

मुझे तो यह पद शास्त्र-वचन-सा जान पड़ता है। दो और दो के मिलकर चार होने पर मुझे जितना विश्वास है उतना ही विश्वास इस दोहे के सत्य होने पर भी है। दया अथवा प्रेम का बल ही आत्मबल है, वही सत्याग्रह है और इस बल का प्रमाण तो हमें पग-पग पर मिलता है। यह बल न होता तो धरा कब की रसातल पहुँच गयी होती। पर आप तो इतिहास का प्रमाण माँगते हैं, इसलिए पहले हमें यही जान लेना होगा कि इतिहास कहते किसे हैं?

इतिहास का शब्दार्थ तो है—'ऐसे हुआ' (इति+ह+आस)। इतिहास का आप अर्थ करें तब तो आपको सत्याग्रह के पचासों प्रमाण दिये जा सकते हैं। पर अगर वह अंग्रेजी शब्द 'हिस्ट्री' का, जिसका अर्थ 'बादशाहों की तवारीख है' उलथा है, तो उसमें सत्याग्रह का प्रमाण नहीं मिल सकता। जस्ते की खान में आप चाँदी ढूँढ़ें तो कैसे मिलेगी? 'हिस्ट्री' में तो दुनिया के हंगामों की ही कहानी मिलेगी।

* यह अंश गांधीजी की 'हिन्द-स्वराज्य' पुस्तक से लिया गया है, प्रकरण १७।

इसी से अंग्रेजों में यह कहावत है कि जिस राष्ट्र की 'हिस्ट्री' नहीं है—अर्थात् जहाँ हंगामे नहीं हुए—वह राष्ट्र सुखी है। 'हिस्ट्री' में तो यही मिलेगा कि राजा कैसे खेलते, कैसे खून-कतल करते और कैसे वैर पालते हैं। अगर यही इतिहास हो, दुनिया में इतना ही हुआ होता, तब तो दुनिया कब की डूब गयी होती। दुनिया की कहानी अगर युद्ध से ही आरम्भ हुई होती तो अब तक एक भी आदमी जिन्दा न होता। जिन जातियों ने युद्ध को ही जीवन का धर्म माना उनकी यही गति हुई है। आस्ट्रेलिया के हबशियों का नाश ही हो गया। आस्ट्रेलिया पर दखल जमानेवाले गोरों ने उनमें से शायद ही किसी को जिन्दा छोड़ा हों। याद रहे कि जिन लोगों की जड़ इस तरह उखड़ गयी, वे सत्याग्रही न थे। जो जिन्दा रहेंगे वे देखेंगे कि आस्ट्रेलिया के गोरों की भी एक दिन यही गति होगी। अंग्रेजों में यह कहावत है कि "तलवार पकड़नेवाले की मौत तलवार से ही होती है" हमारे यहाँ भी यह कहावत बन गयी है कि "तैराक की मौत पानी में ही आती है।"

दुनिया में आज भी जो इतने अधिक मनुष्य विद्यमान हैं यह तथ्य ही हमें बताता है कि विश्व का विधान शस्त्र-बल पर नहीं बल्कि सत्य, दया या आत्मबल पर आश्रित है। आत्मबल की सफलता का सबसे बड़ा ऐतिहासिक प्रमाण तो यही है कि इतने युद्धों-हंगामों के होते हुए भी दुनिया अब तक कायम है। यह इस बात का सबूत है कि युद्धबल के बजाय कोई और बल उसका आधार है।

हजारों बल्कि लाखों आदमी आपस में मेल-मुहब्बत से रहकर ही जिन्दगी गुजारते हैं। करोड़ों कुटुम्बों के झगड़े-टण्टे प्रेम के प्रभाव से मिट जाते हैं। सैकड़ों जातियाँ आपस में मिल-जुलकर रहती हैं, पर 'इतिहास'(हिस्ट्री) इसकी 'नोटिस' नहीं लेता, ले सकता भी नहीं। दया, प्रेम या सत्य का प्रवाह जब कहीं अटकता, टूटता है तभी इतिहास में उसका उल्लेख होता है। दो भाई आपस में लड़े। एक ने दूसरे के सामने

सत्याग्रह किया। पीछे दोनों फिर मिल-जुलकर रहने लगे। इसकी 'नोटिस' कौन लेता है? अगर वकीलों की मदद से या दूसरे कारणों से दोनों में वैरभाव बढ़ता, वे हथियारों या अदालतों की मदद लेकर लड़ते (अदालतें भी एक प्रकार का हथियार, शरीर-बल है) तो उनका नाम अखबारों में छपता। पास-पड़ोसवाले उनकी चर्चा करते और शायद इतिहास भी उनका जिक्र कर देता। कुटुम्बों, जमायतों और संघों पर जो बात घटित होती है वही राष्ट्र पर भी होती है। कुटुम्ब के लिए एक नियम हो और राष्ट्र के लिए दूसरा, यह मानने के लिए कोई कारण नहीं मिलता। इस प्रकार 'इतिहास' में अस्वाभाविक—स्वाभाविक क्रम को भंग करनेवाली घटनाओं का ही उल्लेख होता है। सत्याग्रह स्वाभाविक वस्तु है, इसलिए इतिहास में उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं होती।

प्रश्न—आपके कहने के अनुसार तो जान पड़ता है कि सत्याग्रह का उदाहरण इतिहास में मिल ही नहीं सकता। इस सत्याग्रह को थोड़ा विस्तार से समझाने की जरूरत है, इसलिए आप जो कुछ कहना चाहते हैं उसे जरा खोलकर समझा दें तो अच्छा हो।

उत्तर—सत्याग्रह या आत्मबल को अंग्रेजी में 'पैसिव रेजिस्टेंस' कहते हैं। यह शब्द उस तरीके के लिए व्यवहार किया गया है जिसमें अपने हक पाने के लिए लोगों ने खुद कष्ट उठाया है। यह शस्त्र-बल का उलटा है। मुझे जो काम पसन्द न हो उसे मैं न करूँ तो मैं सत्याग्रह या आत्मबल से काम लेता हूँ। मिसाल के लिए मान लीजिए सरकार ने एक कानून बनाया जो मुझ पर 'लागू' होता है। वह मुझे पसन्द नहीं है। अब मैं सरकार पर हमला करके उसे वह कानून रद्द करने को मजबूर करूँ और उसे न मानने की जो सजा मिले उसे खुशी से भुगत लूँ, तो मैंने आत्मबल से काम लिया अथवा सत्याग्रह किया। सत्याग्रह में अपनी ही बलि देनी होती है।

इस बात को तो सभी स्वीकार करेंगे कि पर-बलि से आत्मबलि कहीं ऊँची चीज है। फिर सत्याग्रह की लड़ाई अगर न्यायसंगत न हो तो

केवल लड़नेवाले को ही कष्ट उठाना पड़ता है। यानी भूल की सजा वह खुद भुगतता है, दूसरों को उसका दण्ड नहीं भोगना पड़ता। ऐसी घटनाएँ कितनी ही हो चुकी हैं, जिनमें लोग नाहक दूसरों से लड़े-झगड़े। कोई भी आदमी नि:शंक होकर नहीं कह सकता कि अमुक काम खराब ही है। पर जब तक वह उसे खराब लगता है तब तक उसके लिए तो वह खराब ही है। ऐसी दशा में वह काम न करना और इसके बदले में जो दुख मिले उसे भोग लेना यही सत्याग्रह की कुंजी है।

प्रश्न—तब तो आप कानून को तोड़ रहे हैं। यह तो राजश्वेह हुआ। हम लोग तो कानून-पालक प्रजा माने गये हैं। आप तो 'एक्सट्रीमिस्ट' (गरम दलवालों) से भी दो कदम आगे जाते हुए दिखायी देते हैं। 'एक्सट्रीमिस्ट' तो यही कहते हैं कि जो कानून बन चुका है उसका पालन तो हमें करना चाहिए। पर कानून खराब हो तो बनानेवाले को मारकर निकाल दो।

उत्तर—मैं उनसे आगे जाता हूँ या पीछे रहता हूँ, इससे तो आपको या मुझे कोई मतलब नहीं। हमें तो क्या ठीक है, इसी की खोज करनी है। और उसके अनुसार चलना है।

कानून-पालक प्रजा होने का सच्चा अर्थ यह है कि हम सत्याग्रही प्रजा हैं। कोई कानून हमें पसन्द न आये तो हम कानून बनानेवाले का सिर नहीं फोड़ते, बल्कि उसे रद्द करने के लिए उसे तोड़ते और इसकी सजा भुगतते हैं। कानून अच्छा हो या बुरा, हमें उसे मानना ही चाहिए, यह अर्थ तो आज-कल का मालूम होता है। पहले तो लोग जिस कानून को जी चाहे तोड़ते और उसकी सजा भोग लेते थे।

जो कानून हमें अच्छे न लगते हों उन्हें मानने की शिक्षा तो हमारी मर्दानगी को बट्टा लगानेवाली है, धर्म-विरुद्ध है और गुलामी की हद है। सरकार कहे कि नंगे होकर नाचो तो क्या हम वैसा करेंगे? अगर मैं सत्याग्रही हूँ तो मैं सरकार से कहूँगा—"इस कानून को अपने घर

रखिए, मैं आपके सामने नंगा होनेवाला नहीं, नाचनेवाला भी नहीं। पर हम तो ऐसे असत्याग्रही हो गये हैं कि सरकार के हुक्म पर नंगा होकर नाचने से भी ज्यादा जलील काम कर डालते हैं।''

जो आदमी अपने मनुष्यत्व को समझता है, जो ईश्वर से डरता है, वह और किसी से नहीं डरता। मनुष्य के बनाये कायदे-कानून को मानना उसका फर्ज नहीं होता। खुद सरकार भी यह नहीं कहती कि ''तुम्हें यह करना ही होगा।'' वह कहती है कि ''तुम यह करोगे तो तुम्हें सजा मिलेगी।'' अपनी गिरी हुई दशा में हम यह मान लेते हैं कि कानून जो कहता है उसे करना हमारा फर्ज है, धर्म है। अगर लोग एक बार यह समझ लें कि जो कानून हमें अन्यायकर जान पड़े उसको मानना नामर्दी है तो फिर किसी का जोर-जुल्म हमें बाँधने में समर्थ नहीं हो सकता। यह स्वराज्य की कुंजी है।

यह मानना नास्तिकपन और वहम है कि बहुसंख्यक की बात अल्पसंख्यक को माननी ही चाहिए। ऐसी मिसालें हजारों मिलेंगी जिनमें बहुतों की कही हुई बात गलत और थोड़ों की कही हुई बात ही सही साबित हुई है। दुनिया में जितने भी सुधार हुए हैं सभी थोड़े-से आदमियों की कोशिशों से हुए हैं, जिन्होंने बहुतों के विरोध का सामना करते हुए उनके लिए यत्न किया। ठगों के गाँव में अधिकांश जन तो यहीं कहेंगे क्रि ठगविद्या सीखनी ही चाहिए। तो क्या साधु पुरुष भी ठग बन जाय? हर्गिज नहीं। अन्यायकारी कानून को भी मानना, पालना हम पर फर्ज है, यह वहम जब तक हमारे दिमाग से दूर न होगा तब तक हमारी गुलामी जानेवाली नहीं और केवल सत्याग्रही ऐसे वहम को दूर कर सकता है।

शरीरबल, गोला-बारूद से काम लेना सत्याग्रह के सिद्धान्त का विरोधी है। उसका अर्थ यह है कि जो बात हमें पसन्द है उसे हम विपक्षी से जबर्दस्ती कराना चाहते हैं। यह जबर्दस्ती जायज हो तो फिर

उसे भी हक है कि हमसे अपना कहा कराने के लिए हथियार की ताकत से काम ले। इस तरह तो हमारी नाव कभी घाट पर न पहुँचेगी। तेली के बैल की तरह आँख पर पट्टी बँधी होने से हम यह भले ही समझें कि हम आगे बढ़ रहे हैं, पर वास्तव में हम उस बैल की तरह कोल्हू का ही चक्कर काटते हैं। जो लोग यह मानते हों कि अपने को न रुचनेवाले कानून को मानना इनसान का फर्ज नहीं है उन्हें तो चाहिए कि सत्याग्रह को ही सच्चा साधन समझें, नहीं तो परिणाम अति विषम होगा।

प्रश्न—आप जो कुछ कहते हैं उसका अर्थ मुझे यह जान पड़ता है कि सत्याग्रह कमजोरों के लिए बहुत अच्छा साधन है, पर कमजोर ज़ब बलवान् हो जायँ तब तोप-बन्दूक से काम ले सकते हैं।

उत्तर—यह तो आपने बड़ी नासमझी की बात कही। सत्याग्रह तो सर्वोपरि है। वह तोप-बन्दूक के बल से अधिक काम करता है। फिर वह कमजोर का हथियार कैसे माना जा सकता है? सत्याग्रह के लिए जिस हिम्मत और मर्दानगी की जरूरत होती है वह तोप-बन्दूक का बल रखनेवाले के पास हो ही नहीं सकती। क्या आप यह मानते हैं कि निर्बल मनुष्य उसे ठीक न लगनेवाले कानून को तोड़ सकता है? गरम दलवाले शस्त्रबल के हिमायती समझे जाते हैं। वे कानून की बात क्यों कहते हैं? मैं उन्हें दोष नहीं देता। उनसे दूसरी बात हो ही नहीं सकती। अंग्रेजों को निकालकर जब वे राज करेंगे तब वे भी हमसे आपसे अपने कानून मनवाना चाहेंगे। उनकी नीति के लिए यही ठीक भी है। पर सत्याग्रही तो यही कहेगा कि जो कानून मुझे ठीक नहीं जान पड़ता उसे मैं न मानूँगा। भले ही इस अपराध के लिए मैं तोपदम कर दिया जाऊँ।

आप क्या मानते हैं? तोप दाग कर सैकड़ों को मार डालने में हिम्मत की जरूरत है या हँसते हुए तोप के मुँह के सामने जाकर खड़े हो जाने में? जो अपनी मौत को सिर पर लिये घूमता है वह रणधीर है या जो दूसरों की मौत अपनी मुट्ठी में रखता है?

नामर्द कभी सत्याग्रही हो ही नहीं सकता, इसे पक्का समझिए। हाँ, यह सही है देह से दुबला-पतला आदमी भी सत्याग्रही हो सकता है। सत्याग्रह एक आदमी भी कर सकता है और लाखों आदमी मिलकर भी। सत्याग्रही को फौज खड़ी करने की जरूरत नहीं पड़ती। कुश्ती की कला सीखने की जरूरत भी नहीं होती। उसने अपने मन को वश में किया कि फिर वनराज सिंह की तरह दहाड़ सकता है और उसकी गर्जना जो लोग उसके दुश्मन बने बैठे हों उनका कलेजा कँपा देती है।

सत्याग्रह ऐसी तलवार है जिसके सभी ओर धार है, उसे जैसे चाहें काम में ला सकते हैं। उससे काम लेनेवाला और जिसपर वह काम में लायी जाय दोनों सुखी होते हैं। वह खून नहीं बहाती, पर काट गहरी करती है। उस पर जंग नहीं लगते न कोई उसे चुरा ही सकता है। सत्याग्रही को किसी का मुकाबला करना पड़े तो वह इसमें थकता नहीं। सत्याग्रही की तलवार को म्यान की जरूरत नहीं होती उसे कोई छीन भी नहीं सकता। फिर भी आप सत्याग्रह को कमजोर हथियार मानें तो यह शुद्ध अन्धेर ही होगा।

प्रश्न—आप कहते हैं कि सत्याग्रह हिन्दुस्तान का खास हथियार है। तो क्या हिन्दुस्तान में तोप-बन्दूक से कभी काम नहीं लिया गया?

उत्तर—जान पड़ता है, आप मुट्ठी भर राजा-महाराजों को ही हिन्दुस्तान मानते हैं। पर मेरी समझ से तो हिन्दुस्तान के मानी उसके करोड़ों किसान हैं, जो राजा-नवाब और हम सबके अस्तित्व का आधार हैं।

राजा-बादशाह तो हथियार से काम लेंगे ही। उनकी तो वह रीति ही हो गयी है। उन्हें तो हुक्म चलाना है। पर हुक्म बजानेवाले को तोप-बन्दूक की जरूरत नहीं पड़ती, और दुनिया का बड़ा भाग हुक्म बजानेवाला ही है। आज्ञापालकों को या तो शस्त्रबल से काम लेना सीखना होगा या आत्मबल से काम लेना। जहाँ उन्हें शस्त्रबल की शिक्षा

दी जाती है वहाँ राजा-प्रजा दोनों पागल-से हो जाते हैं। पर जहाँ हुक्म बजानेवालों को आत्मबल से काम लेने की शिक्षा मिली हो वहाँ राजा का जुल्म उसके तीन हाथ की तलवार से आगे नहीं जा सकता, क्योंकि सच्चे आदमी अन्यायकृत आज्ञा की परवाह नहीं करते। किसान किसी की तलवार के वश न हुए और न होनेवाले हैं। उन्हें न तलवार चलाना आता है और न दूसरों की तलवार से वे डरते हैं। वह राष्ट्र महान् है जो सदा मौत को तकिया बनाकर सोता है। जिसने मौत का डर छोड़ा वह भयों से मुक्त हो गया।

इस तसवीर में रंग कुछ ज्यादा जरूर भरा गया है। पर शस्त्रबल के जादू ने जिन लोगों को मोह रखा है उनके लिए इसमें तनिक भी अतिरंजना नहीं है।

सच तो यह है कि हिन्दुस्तान के किसानों, हिन्दुस्तान की जनता ने जीवन तथा राजकाज में सत्याग्रह से हमेशा काम लिया है। जब राजा जुल्म करता है तब प्रजा उससे सहयोग नहीं करती। यही सत्याग्रह है।

मुझे एक घटना याद आती है। एक रियासत में राजा ने कोई हुक्म दिया जो प्रजा को पसन्द न आया। लोगों ने गाँव खाली करना शुरू किया। यह देख राजा घबराया और उसने प्रजा से माफी माँगी और हुक्म वापस ले लिया। ऐसी मिसालें तो बहुतेरी मिल सकती हैं, पर वह खास कर हिन्दुस्तान की ही चीज है। जहाँ ऐसी सत्याग्रही प्रजा हो वहीं स्वराज्य है, उससे रहित स्वराज्य कुराज्य है।

प्रश्न—तब तो आप कहेंगे कि हमें अपने शरीर को मजबूत बनाने की जरूरत ही नहीं है।

उत्तर—यह आपने कैसे समझा? शरीर को कसे बिना तो सत्याग्रही होना ही कठिन है। जो शरीर आरामतलबी से निर्बल बना लिया गया है उस शरीर में बसनेवाली आत्मा भी बहुत करके निर्बल ही होती है। और जहाँ मन का बल नहीं है वहाँ आत्मा का बल कहाँ से आयेगा?

बालविवाह आदि आरामतलबी का रहन-सहन त्याग कर हमें अपने शरीर को तो पोढ़ा (मजबूत) बनाना ही होगा। मरियल आदमी को तोप के मुँह के सामने खड़ा होने को कहूँ तो मैं अपनी ही हँसी कराऊँगा।

प्रश्न—आप जो कुछ कह रहे हैं उससे तो ऐसा जान पड़ता है कि सत्याग्रही होना कोई ऐसी-वैसी बात नहीं। यह बात है तो आपको यह समझा देना चाहिए कि कोई आदमी सत्याग्रही कैसे हो सकता है?

उत्तर—सत्याग्रही होना है तो आसान, पर जितना आसान है उतना ही कठिन भी है। चौदह वर्ष के बालक को सत्याग्रही बनते मैंने देखा है। रोगी को भी सत्याग्रही होते देखा है और यह भी देखा है कि जो लोग शरीर से तगड़े और दूसरी तरह से सुखी थे वे सत्याग्रही न हो सके।

अनुभव से मैंने देखा कि जो लोग देश-सेवा के लिए सत्याग्रह को अपनाना चाहते हों उन्हें ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, गरीबों का जीवन अपनाना चाहिए, सत्य का व्रत तो लेना ही चाहिए, और निर्भय भी बनना चाहिए।

ब्रह्मचर्य एक महाव्रत है, जिसके बिना मन की गाँठ कसी नहीं जा सकती। ब्रह्मचर्य के अपालन से मनुष्य वीर्यरहित, बेदम और कायर हो जाता है। यह बात अगणित उदाहरणों से सिद्ध की जा सकती है कि जिसका मन विषय-वासना में भ्रमता रहता है उससे कोई महत्कार्य का प्रयत्न नहीं होने का। तब घर-गृहस्थीवालों को क्या करना चाहिए, यह प्रश्न उठता है। पर उसके उठने की कोई जरूरत नहीं है। पति-पत्नी का समागम विषयभोग नहीं है, यह कहने का साहस कोई नहीं कर सकता। सन्तानोत्पादन के लिए ही स्वस्त्री-संगविहित है। पर सत्याग्रही को तो सन्तान की कामना भी न होनी चाहिए। अत: वह गृहस्थ होते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। यह बात अधिक खोलकर लिखने की नहीं है। स्त्री का विचार क्या है, यह सब कैसे होगा, आदि प्रश्न इस

प्रसंग में उठते हैं। पर जिसे किसी महत्कार्य में योग देना है, उसे इन सवालों को हल करना ही होगा।

जैसे ब्रह्मचर्य पालन की आवश्यकता है वैसे ही गरीबी का व्रत लेने की भी। पैसे का लोभ और सत्याग्रह की साधना दोनों चीजें एक साथ हो ही नहीं सकतीं। इसका मतलब यह नहीं है कि जिसके पास पैसा है वह फेंक दे। पर पैसे की चाह उसे न रहे, यह जरूर है। सत्याग्रह करते हुए पैसा चला जाय तो उसे इसका गम न होना चाहिए!

सत्याग्रह को हमने सत्य का बल बतलाया है। जो सत्य का सेवन न करे वह सत्य का बल कैसे दिखा सकता है? इसलिए सत्य की तो सदा आवश्यकता होगी ही। कितना ही नुकसान होता हो, तो भी सत्य का पल्ला नहीं छोड़ा जा सकता। सत्य किसी को सताना नहीं होता, इसलिए सत्याग्रही की कोई गुप्त सेना नहीं हो सकती। दूसरे की जान बचाने के लिए झूठ बोलना चाहिए या नहीं, ऐसे सवाल हमें नहीं उठाने चाहिए। जिसे झूठ का बचाव करना होता है वही ऐसे सवाल उठाते हैं। जिसे सत्य का ही मार्ग स्वीकार करना है उसके सामने ऐसे धर्मसंकट आते ही नहीं। और आ जायँ तो सत्यवादी मनुष्य उस संकट से पार हो जाता है।

अभय के बिना सत्याग्रही की गाड़ी एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती। उसे सब प्रकार और सभी बातों में निर्भय होना चाहिए। धन-दौलत, झूठा मान-अपमान, नेह-नाता, राजदरबार, चोट-मृत्यु—सबके भय से मुक्त हो जाय तभी सत्याग्रह का पालन सकता है।

इन सबको कठिन मानकर छोड़ नहीं देना चाहिए। जो कुछ सिर पर आ पड़े उसे सह लेने की शक्ति प्रकृति ने मनुष्यमात्र को दे रखी है। ये तो ऐसे गुण हैं जिन्हें अपना ज़ीवन देश-सेवा में न लगाना हो उन्हें भी इनको अपनाना चाहिए।

फ़िर यह भी जान लेना चाहिए कि जिन्हें हथियार बाँधना हो उन्हें भी इन गुणों की आवश्यकता होगी ही। कोई इच्छा करते ही रणवीर

नहीं बन जाता। योद्धा बनने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना और भिखारी बनना होगा। जो निर्भय नहीं है वह तो रन में लड़ चुका! कोई यह सोच सकता है कि लड़नेवाले को सत्य का व्रत लेने की उतनी आवश्यकता नहीं है पर जहाँ अभय है वहाँ सत्य सहज ही बसता है। मनुष्य जब सत्य को छोड़ता है तब किसी-न-किसी प्रकार के भय से ही छोड़ता है।

अतः इन चार गुणों से डरने की जरूरत नहीं है। फिर तलवार बाँधनेवालों को कितने ही दूसरे फालतू प्रयास करने होते हैं जिनकी आवश्यकता सत्याग्रही को नहीं होती। इन फालतू बातों का कारण भय ही है। उसे पूर्ण अभय की प्राप्ति हुई कि तलवार उसी छन उसके हाथों से गिर जायेगी। इस सहारे की उसे जरूरत ही न रहेगी। जिसका किसी से वैर नहीं उसे तलवार की जरूरत नहीं होती। एक आदमी का आचानक शेर से सामना हो गया। उसके हाथ में लाठी थी, वह अपने-आप उठ गयी। उसने देखा कि उसकी निर्भयता महज जबानी-जमा-खर्च थी। उसने लाठी उसी क्षण फेंक दी और भय-मुक्त हो गया।

●

सन्दर्भ की कुंजी

(ग्रंथ में स्थान पर प्रकरणों के अन्तर्गत जो अंक हैं, वे सन्दर्भों के सूचक हैं। सन्दर्भ-सूची में उन अंकों से सामने सन्दर्भ-स्थलों का निर्देश है। सन्दर्भ-स्थलों का निर्देश प्रारम्भिक अक्षरों में है। इस सन्दर्भ-कुंजी में सन्दर्भ-स्थलों के संकेतों का स्पष्टीकरण और सम्पूर्ण उल्लेख है।)

चु० प०	चुने हुए पत्र (सिलेक्टेड लेटर्स); नवजीवन कार्यलय, अहमदाबाद
यं० इं०	यंग इण्डिया (अंग्रेजी साप्ताहिक)
भा० ले०	भाषण और लेख (स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गांधी)
ह०	हरिजन (अंग्रेजी साप्ताहिक)
हि० न० जी०	हिन्दी नवजीवन साप्ताहिक
ह० से०	हरिजन सेवक (हिन्दी साप्ताहिक)
म०	महात्मा : तेंदूलकर (अंग्रेजी)
मं० प्र०	मंगल प्रभात (नवजीवन)
सिलें०	सिलेक्शन्स फ्रॉम गांधी (१९४८); निर्मलकुमार बोस
हि० स्व०	हिन्द स्वराज्य
र० का०	रचनात्मक कार्यक्रम (नवजीवन प्रकाशन)
मा० म० गां०	माइन्ड ऑफ महात्मा गांधी : राव
मा० रि०	दि मॉडर्न रिव्यू (अंग्रेजी मासिक)
अ० बा० प०	अमृत बाजार पत्रिका (अंग्रेजी दैनिक, कलकत्ता)
बा० क्रा०	दि बाम्बे क्रानिकल (अंग्रेजी दैनिक, बम्बई)
ग्रा० उ० प०	ग्राम उद्योग पत्रिका (मासिक)
दि० डा०	दिल्ली डायरी (स० सा० मण्डल)
स० सा० अ०	सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका

स० आ० इ०	सत्याग्रह आश्रम का इतिहास
स० शि०	सच्ची शिक्षा (नवजीवन)
हि० सा० स०	हिन्दी साहित्य सम्मेलन
गु० शि० प०	गुजरात शिक्षा परिषद्
आ० कुं०	आरोग्य की कुंजी (मो० क० गांधी)
म० डा०	महादेवभाई डायरी
व० व्य०	वर्ण-व्यवस्था (मो० क० गांधी)
इं०के०फा०स्व०	इण्डियाज केस फॉर स्वराज
गां०इ०इं०वि०	गांधीजी इन इण्डियन विलेजेज

सन्दर्भ-सूची

प्रकरण-१

१. चु० प० (१), ४०
२. यं० इं० २१ फर २९
३. यं० इं० ५ फर २४
४. यं० इं० ६ अग २५
५. यं० इं० ११ अग २०
६. भा० ले० : पृ० ४०५
७. ह० २५ जन ४२
८. हि० न० जी० ७ अंक २६
९. यं० इं० १७ सितं २५
१०. यं० इं० ११ अग २७
११. यं० इं० ३० अप्रैल ३१
१२. यं० इं० ११ अग २०
१३. यं० इं० २२ जून २१
१४. यं० इं० ४ जुलाई २९
१५. यं० इं० २ जन ३०
१६. यं० इं० १० सितं ३१
१७. यं० इं० ६ अप्रैल २१
१८. यं० इं० ११ अग २०

प्रकरण-२

१. यं० इं० १९ मार्च ३१
२. हि० न० जी० २९ जन २५
३. हि० न० जी० ८ दिसं २७
४. यं० इं० २६ मार्च ३१
५. यं० इं० १६ अप्रैल ३१
६. यं० इं० ५ मार्च ३१
७. यं० इं० २६ मार्च ३१
८. ह० २ जन ३७
९. यं० इं० २३ जन ३०
१०. ह० २७ मई ३९
११. ह० २५ मार्च ३९
१२. ह० से० १२ नवं ३८
१३. ह० से० १८ मई ४०
१४. ह० ११ जन ३६
१५. ह० १८ जन ४८
१६. यं० इं० ६ अग २४

प्रकरण-३

१. पं० नेहरू को लिखे पत्र से अंक ४५
२. ह० से० २८ जुलाई ४६
३. ह० १ जुलाई ४७
४. ह० ४ अप्रैल ३६
५. भा० ले० : पृ० ३२३
६. यं० इं० ३० मार्च ३१
७. ह० १९ अंक ३७
८. हि० न० जी० १९ मार्च २२

९. ह० ११ अप्रैल ३६
१०. ह० १६ मार्च ३६
११. ह० १६ मई ३६
१२. ह० ७ मार्च ३६
१३. यं० इं० २३ मार्च २१
१४. ह० २७ फर ३७
१५. बा० क्रा० २८ अंक ४४
१६. बा० क्रा० १२ जन ४५
१७. ग्रा० उ० प० जुलाई ४६

प्रकरण–४

१. ह० से० २० जन ४०
२. ह० से० २९ अग ३६
३. ह० से० २ अग ४२
४. ह० ४ अग ४६
५. म० खंड ४, पृ० १४४
६. ह० से० १० नवं ४६
७. ह० २८ जन ३९
८. ह० से० २९ अग ३६
९. ह० से० २३ नवं ३४
१०. ह० से० २३ नवं ३४

प्रकरण–५

१. यं० इं० २५ जुलाई २९
२. एम० एन० चटर्जी द्वारा 'कम्यूनिटी सर्विस न्यूज' सितंबर–अक्तूबर '४६ में उद्धृत, ला० फे०, पृ० ५८५–५८६
३. ह० २९ सितं ४०
४. ह० ४ नवं ३९
५. ह० १३ जन ४०
६. यं० इं० १५ नवं २८
७. ह० २ नवं ३४
८. मा० म० गां० १२१
९. ह० २ नवं ३४
१०. सिले० : पृ० ६४–६५
११. हि० न० जी० २ नवं २४
१२. हि० न० जी० ५ नवं २५
१३. यं० इं० १७ जून २६
१४. ह० से० २० सितं ३५
१५. ह० २९ अग ३६
१६. ह० १ सितं ४६
१७. ह० से० १८ अंक ४२
१८. ह० ३० दिसं ३९
१९. लुई फिशर 'ए वीक विथ गांधी' (१९४४), पृ० ६४; ला० फे० पृ० ६१४
२०. ह० १ सितं ४६

प्रकरण–६

१. ह० १९ दिसं ३६
२. यं० इं० ११ अप्रैल २९
३. मं० प्र० : प्र० ९, पृ० ४१–४४
४. ह० से० ५ जुलाई ३५
५. ह० १ जून ३५
६. ह० २९ जून ३५

७. ह० २९ जून ३५
८. ह० से० १४ सितं ३४

प्रकरण-७

१. सिले० : पृ० ३९
२. मं० प्र० : प्र० ६, पृ० ३१
३. यं० इं० २४ जून २६
४. मं० प्र० : प्र० ६, पृ० २९-३०
५. भा० ले० : पृ० ३८४
६. हि० स्व० : प्र० १३, पृ० ४५-४६

प्रकरण-८

१. यं० इं० १५ नवं २८
२. यं० इं० १३ अंक २१
३. ह० ९ अक ३७
४. ह० १५ जन ३८
५. र० का० : पृ० ४०-४१
६. ह० से० २४ अग ४०
७. मा० रि० १९३५, पृ० ४१२
८. ह० ३ दिसं ३८
९. ह० ७ जन ३९
१०. ह० १६ दिसं ३९
११. ह० १ फर ४२

प्रकरण-९

१. ह० २० फर ३७
२. ह० २ जन ३७
३. ह० से० २० अप्रैल ४०
४. अ० बा० प० २ अग ३४
५. ह० १३ मार्च ३७
६. यं० इं० १५ नवं २८
७. ह० से० ३१ मार्च ४६
८. ह० से० १३ जुलाई ४७
९. अ० बा० प० २ अग ३४
१०. अ० बा० प० ३ अग ३४
११. ह० ५ दिसं ३६
१२. ह० १९ अक ३५
१३. यं० इं० ५ दिसं २९

प्रकरण-१०

१. यं० इं० ४ अप्रैल २९
२. सिले० : पृ० ५९
३. यं० इं० २१ जुलाई २०
४. यं० इं० ८ दिसं २१
५. ह० से० ३० अक ३७
६. यं० इं० १७ सितं २५
७. ह० १३ अप्रैल ४०
८. र० का० : पृ० २०-२१-२२
९. यं० इं० २० मई २६
१०. यं० इं० २० अक २१
११. र० का० : पृ० २६-२७
१२. ह० से० २५ जन ३५
१३. ह० से० २८ अप्रैल ४६
१४. यं० इं० ६ अंक २१
१५. ह० से० २१ सिंत ४०
१६. यं० इं० ६ अक २१
१७. ह० से० २१ अग ४०

१८. ह० से० २२ फर ४२
१९. यं० इं० ७ जुलाई २७
२०. ह० से० १५ फर ४२
२१. र० का० : पृ० २७-२८
२२. ह० से० १६ जन ३७
२३. ह० से० १५ फर ३५
२४. डि० डा० : पृ० २८६-८७
२५. ह० २८ दिसं ४७
२६. स० सा० अ० : पृ० २४०
२७. ह० से० १५ फर ३५
२८. ह० से० १६ जन ३७
२९. ह० से० २ जून ४६
३०. ह० से० १ सितं ४६
३१. ह० से० १५ सितं ४६
३२. ह० से० १५ जून ४७
३३. यं० इं० २६ दिसं २४
३४. यं० इं० १९ नवं २५
३५. यं० इं० २६ नवं २५
३६. भा० ले० : पृ० ३७५-७६
३७. यं० इं० २८ मार्च २९
३८. ह० १८ फर ३९

प्रकरण-११

१. यं० इं० १ सितं २१
२. ह० ९ अक ३७
३. ह० से० १५ मार्च ३५
४. ह० ८ मई ३७
५. ह० २८ अग ३७
६. ह० ११ सितं ३७
७. र० का० : पृ० २८-२९
८. ह० ६ अप्रैल ४०
९. यं० इं० १ सितं २१
१०. ह० ३१ जुलाई ३७
११. यं० इं० २ अग २८
१२. ह० २ अक ३७
१३. ह० से० ९ जुलाई ३८
१४. ह० २ नवं ४७
१५. स० आ० इ०'५९, पृ० ६९-७०, ७२
१६. ह० २२ जून ४०
१७. हि० न० जी० २५ अग २७
१८. यं० इं० ६ अग २५

प्रकरण-१२

१. ह० से० ९ जुलाई ३८
२. स० शि० : प्र० २, पृ० ११-१७
३. २७ दिसं '१७, कलकत्ता, समाज-सेवा परिषद्, अध्यक्षीय भाषण
४. यं० इं० २७ अप्रैल २१
५. हि० स्वा० १९५९, पृ० ७४-७५
६. यं० इं० १ जन २१
७. हि० न० जी० २ सितं २१
८. हि० न० जी० ५ जुलाई २८
९. ह० से० ९ जुलाई ३८
१०. यं० इं० १ सितं २१
११. र० का० : पृ० ३७-३८

१२. ह० से० २५ अग ४६
१३. ह० से० २१ सितं ४७
१४. यं० इं० १३ मई २६

प्रकरण-१३

१. यं० इं० २७ अग २५
२. गु० शि० प० अध्यक्षीय भाग २० अक १७
३. यं० इं० १६ जून २०
४. र० का० : पृ० ३९
५. यं० इं० २ फर २१
६. यं० इं० १८ जून ३१
७. हिं० सा० स०, इन्दौर, १९३५
८. यं० इं० २ फर २१
९. हिं० सा० स०, इन्दौर, १९३५

प्रकरण-१४

१. म०, ४, ७३
२. हिं० न० जी० १२ मार्च २५
३. आ० कुं० १९५९, पृ० ३७-३८
४. सिले० : पृ. १८
५. म० डा०—१, ३२०
६. ह० २८ मार्च ३६
७. ह० २ मई ३६
८. अ० बा० प० १२ जन ३५
९. यं० इं० २ अप्रैल २५
१०. ह० से० २० सितं ३५
११. ह० से० ३१ मार्च ४६

प्रकरण-१५

१. यं० इं० २५ जून ३१
२. यं० इं० ८ जून २१
३. यं० इं० १२ जून २८
४. ह० ९ मार्च ३४
५. यं० इं० ३ मार्च २७
६. यं० इं० १५ सितं २७
७. यं० इं० ४ अप्रैल २९
८. यं० इं० १२ जून २१
९. यं० इं० ४ फर २६
१०. आ कुं०, : पृ० २८-२९-३०
११. भा० ले० : पृ० ३८७
१२. ह० ११ फर ३३
१३. यं० इं० २५ मई २१
१४. यं० इं० २९ जुलाई २६
१५. यं० इं० ५ जन २२
१६. मं० प्र० : ९, पृ० ४३-४४

प्रकरण-१६

१. मा० रि० १९३५, पृ० ४१३
२. यं० इं० २७ अक २७
३. व० व्य० १९५९, पृ० ४९-५०
४. ह० १६ नवं ३५
५. ह० ११ फर ३३
६. यं० इं० ५ जन २१

प्रकरण-१७

१. र० का० : पृ० ३२-३४

२. भा० ले० : पृ० ४२४
३. भा० ले० : पृ० ४२५
४. यं० इं० १७ अक २९
५. ह० २ दिसं ३९
६. स० शि० १९५९, पृ० १५८-६१
७. ह० २७ फर ३७
८. ह० २२ मई ३६
९. यं० इं० २१ जून २८

प्रकरण-१८

१. यं० इं० ११ फर २०
२. भा० ले० : पृ० १०४९
३. यं० इं० १६ फर २१
४. ह० से० ११ अग ४६
५. यं० इं० ११ फर २०
६. भा० ले० : पृ० १०४६
७. यं० इं० १४ जन ३२
८. ह० से० ६ जुलाई ४७

प्रकरण-१९

१. ह० से० १८ जून ३८
२. ह० से० ५ मई ४६
३. यं० इं० २९ मई २४
४. ह० से० १४ सितं ४०

प्रकरण-२०

१. यं० इं० ७ मई ३१
२. यं० इं० २ फर २१
३. यं० इं० २६ जन २२
४. यं० इं० २ मार्च ३२
५. ह० १ फर ४२
६. यं० इं० ५ जन २२
७. यं० इं० १५ दिसं २१
८. यं० इं० २४ मार्च २०
९. यं० इं० ३ नवं २१
१०. यं० इं० २० अंक २७
११. ह० १५ अप्रैल ३३
१२. भा० ले० : पृ० ४७६
१३. यं० इं० २८ अप्रैल २०
१४. यं० इं० २ फर २१
१५. यं० इं० २ अप्रैल ३१
१६. ह० से० २७ मई ३९
१७. ह० १८ मार्च ३९
१८. ह० से० १८ मार्च ३९
१९. ह० २१ अप्रैल ४६
२०. ह० १३ अक ४०
२१. ह० ६ मई ३३
२२. यं० इं० २२ सितं २०
२३. यं० इं० २८ जुलाई २०
२४. यं० इं० ८ सितं २०
२५. यं० इं० २३ फर २१
२६. ह० ११ जन ३६
२७. मा० रि० १९३५, पृ० ४१२
२८. यं० इं० २ जुलाई ३१
२९. ह० से० १५ सितं ४६

प्रकरण-२१

१. यं० इं० ७ नवं २९
२. यं० इं० १७ अप्रैल २४
३. यं० इं० २९ दिसं २७
४. ह० से० २० फर ३७
५. ह० से० १७ मार्च ४६
६. ह० से० २ मार्च ४७
७. ह० से० २ मार्च ४७
८. ह० २३ नवं ३५
९. ह०.१ मार्च ३५
१०. ह० १९ दिसं ३६
११. यं० इं० २१ फर २९
१२. यं० इं० २२ दिसं २७
१३. यं० इं० ९ जुलाई २५

प्रकरण-२२

१. यं० इं० १ अक ३१
२. यं० इं० १२ जन २८
३. यं० इं० ६ मई २९
४. इं० के० फा० स्व : पृ० २०९
५. ह० से० २१ जून ४२
६. यं० इं० २ जुलाई ३१
७. यं० इं० २६ दिसं २४
८. यं० इं० १६ मार्च २१
९. गां० इ० इं० वि० : पृ० १७०
१०. यं० इं० १२ मार्च २५
११. यं० इं० ४ अप्रैल २९
१२. ह० १७ नवं ३३
१३. दि० डा० : पृ० ३२
१४. ह० से० २० अप्रैल ४७

गांधी वाङ्मय

आत्मकथा (संक्षिप्त)	गांधीजी
गीता-बोध और मंगल-प्रभात	,,
हिन्द स्वराज्य	,,
पिछड़ा कौन है?	,,
मैं कौन हूँ?	,,
इतिहास के पन्ने	,,
पश्चिम : खरा और खोटा	,,
अहिंसा की ताकत	,,
महायुद्ध की आग	,,
धर्म तलवार है?	,,
स्वदेशी की ललकार	,,
आजादी और औरत	,,
बापू-कथा (1920-1948)	हरिभाऊ उपाध्याय
गांधीजी के साथ पचीस वर्ष (महादेव भाई की डायरी) खण्ड 2, 3 व 6 से 10	महादेव देसाई
बापू की मीठी-मीठी बातें (1-2)	साने गुरुजी
गांधी : जैसा देखा-समझा विनोबा ने	सं. कान्ति शाह
गांधी-विचार	ठाकुरदास बंग
महात्मा गांधी	,,
गांधी की दृष्टि	दादा धर्माधिकारी
गांधी की दृष्टि : अगला कदम	,,
मानवनिष्ठ भारतीयता	,,
गांधीजी के एकादश व्रत	दशरथलाल शाह
रचनात्मक कार्यक्रम : वर्तमान सन्दर्भ में	,,
माता कस्तूरबा	बा. जोशी, र. ओझा
गांधी की हत्या : क्या सच, क्या झूठ	चुनीभाई वैद्य
बापू की गोद में	नारायण देसाई
गांधी की शहादत	जगन फडणीस
Mahatma Gandhi 125 years	Collection Book
Day to Day with Gandhi (Vol. 2-9)	Mahadev Desai

